दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९४ तंत्री–जगजीवन बाउचंद दोशी, सावरकुंडला वर्ष २४ अंक नं० १

वीतरागी संतों से विश्व की शोभा है

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

इस विश्व की शोभा मात्र वीतरागस्वरूप धर्मतीर्थ द्वारा ही है और उस तीर्थ की साधना एवं प्रवर्तन करनेवाले संत भी जगत में शोभायमान हैं। वे संत जहाँ–जहाँ जाते हैं, वहाँ आनंद–मंगल वर्तता है। ग्रीष्म के तीव्र ताप से तप्त जनों को मेघवर्षा द्वारा शांति प्राप्त होती है, उसीप्रकार भवताप से संतप्त भव्य जीवों को वीतरागी संतों की वाणीरूपी मेघवर्षा परमशांति प्रदान करती है। ऐसे ही संत द्वारा भारत में आज सुवर्णधाम शोभायमान हो रहा है। सुवर्ण के संत भव्य जीवों को वीतरागमार्ग का उपदेश देकर अनंत शांतिमय सुखधाम में ले जाते हैं। अहो, ऐसे उपकारी संतों को नमस्कार हो! धन्य है उनका जीवन!

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

मई १९६८] वार्षिक मूल्य ३) रुपये (२७७) एक अंक २५ पैसा [वैशाख सं० २४९४

शांतिधाम में स्वागतम्

आत्मिक-आराधनामय जिनका जीवन है और भव्य जीवों को जो सदैव आत्मिक-आराधना का संदेश दे रहे हैं—ऐसे पूज्य गुरुदेव को शत-शत वंदन।

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

संपादक : (१) श्री ब्र० गुलाबचंद जैन (२) श्री ब्र० हरिलाल जैन

मई : १९६८ ☆ वैशाख, वीर नि०सं० २४९४, वर्ष २४ वाँ ☆ अंक : १

सम्पादकीय—

अपने पूज्य गुरुदेव

अभी कुछ ही दिन पूर्व वैशाख शुक्ला २ को बींछिया (सौराष्ट्र) में तथा भारत के अनेक नगरों में मुमुक्षुओं ने पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी का जन्म-दिन उल्लास पूर्वक मनाया। गुरुदेव का जन्म-दिन मुमुक्षुगण आनंद-उल्लास सहित मनाते हैं, क्योंकि उनका पवित्र जीवन मुमुक्षुओं को आत्मसाधना की प्रेरणा देता है... वे हमें आत्महित का मार्ग बतला रहे हैं... धर्म की साधना ही जीवन की महत्ता है-ऐसा उनके जीवन से प्रगट हो रहा है। उनका जीवन वास्तव में पुराण पुरुषों का पूर्व-जीवन है। जीवन में आत्मार्थ की साधना के लिये जीव की कितनी तैयारी होना चाहिये, उसका आदर्श गुरुदेव के जीवन में दृष्टिगोचर होता है। ऐसे महान पुरुष के अंतरंग जीवन की प्रतीति करने के लिये अंतर की कोई अलग दृष्टि होना चाहिये... कोई विरले जीवन ही ऐसी प्रतीति करते हैं। श्रीमद् राजचंद्र के शब्दों में कहें तो 'मुमुक्षु के नेत्र महात्मा को पहिचान लेते हैं।'

अपने गुरुदेव का जीवन भूतकाल में भी महान विशेषताओं से भरपूर था; वर्तमान में उनके जीवन की विशेषता हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं और भविष्य में उनका जीवन जगत के सर्वोत्कृष्ट पद को सुशोभित करेगा... उसकी याद आज भी आत्मा में धर्मोल्लास जागृत करती है और उन मंगलमूर्ति महात्मा के प्रति हार्दिक बहुमान उमड़ आता है; तथा ऐसी कृतकृत्यता का अनुभव होता है कि हम ऐसे महान आत्मा के संपर्क में, उनकी छत्रछाया में निवास कर रहे हैं।

जिन गुरुदेव ने आत्मशोध करके हमें भी उसका नि:शंक मार्ग बतलाया, उन्हें हम देहातीत, जन्म-मरण से रहित, अविनाशी, चिन्मात्रस्वरूप, आत्मभावरूप से पहिचानें और ऐसे आत्मभाव की उपासना करके निश्चय गुरुसेवा का उत्तम फल प्राप्त करें तथा ठेठ मोक्षनगरी तक गुरुदेव के साथ ही रहें... ऐसी अंतरंग भावना के साथ गुरुदेव का बारम्बार अभिनन्दन करते हैं।

—ब्र. हरिलाल जैन

जीव के पाँच भाव

उनमें मोक्ष के कारणरूप भाव कौन हैं ?

पूज्य स्वामीजी राजकोट में १३ दिन रहे। उन दिनों श्री समयसार की पन्द्रहवीं गाथा के प्रवचन समाप्त होने पर मुमुक्षुओं के विशेष आग्रह से श्री समयसार गाथा ३२० पर (श्री जयसेनाचार्य रचित 'तात्पर्यवृत्ति' नामक टीका पर) प्रवचन किये। गाथा में भरे हुए सूक्ष्म आध्यात्मिक रहस्य को पूज्य स्वामीजी अपनी विशिष्ट शैली में प्रगट करते थे। उन प्रवचनों का सारांश यहाँ दिया जा रहा है।

ज्ञानस्वभावी आत्मा पर का अकर्ता और अवेदक है; उसे भूलकर पर के कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व की बुद्धि से जीव संसार में दुःखी हो रहा है; इसलिये यहाँ आचार्यदेव आत्मा का पर से भिन्न अकर्ता-अभोक्ता ज्ञानमात्र स्वभाव बतलाते हैं:—

दिट्ठी सयंपि णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव।
जाणदि य बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव॥३२०॥

जिसप्रकार आँख अग्नि को करती नहीं है अथवा उसकी उष्णता का वेदन नहीं करती; यदि आँख अग्नि को करे या भोगे तो आँख जल जाये; परंतु आँख तो देखनेवाली ही है; संधूकण करनेवाले को आँख देखती है और अग्नि से उष्ण हुए लोहे के गोले को भी आँख देखती ही है, परंतु आँख उसे करती या भोगती नहीं है, आँख तो देखनेवाली ही रहती है। उसीप्रकार ज्ञान और दर्शन जिसकी आँख है, ऐसा आत्मा भी बाह्य पदार्थों को या कर्म के बंध-मोक्ष को नहीं करता और भोगता नहीं है; उसका दृष्टा-ज्ञाता ही रहता है। आत्मा का दृष्टा-ज्ञाता स्वभाव अनुभव में लेना, सो धर्म है।

भाई, तू तो ज्ञानस्वरूप है। तेरा चैतन्यनेत्र जगत का साक्षी है, परंतु अपने से बाह्य ऐसे रागादिक का या जड़ की क्रिया का कर्ता वह नहीं है। शुद्ध ज्ञान में पर का कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं समाता। ज्ञान में रागादि का कर्तापना मानना, वह तो आँख से पत्थन उठवाने जैसा है। आत्मा ज्ञानभाव की मूर्ति है; उस ज्ञानरूप परिणमित ज्ञानी रागादि के कर्ता-भोक्तारूप से परिणमित

नहीं होते। ज्ञान के परिणमन में राग का परिणमन नहीं है। शुद्ध परिणति में अशुद्ध परिणति का कर्तृत्व कैसे होगा ? शुद्ध परिणतिरूप से परिणमित जीव भी रागादि अशुद्धता का कर्ता-भोक्ता नहीं है; उसका उपादान शुद्धरूप से परिणमित हो रहा है। शुद्ध उपादानरूप से परिणमित वह जीव शुद्धभाव का ही कर्ता-भोक्ता है, वह अशुद्धता का कर्ता-भोक्ता नहीं है। ऐसी शुद्धतारूप से परिणमित आत्मा, वह शुद्ध आत्मा है।

अरे जीव! तेरी चैतन्य जाति कैसी है ?... तेरी चैतन्य दृष्टि कैसी है ?.... उसकी यह बात है। जगत का प्रकाशक, तथापि जगत से भिन्न ऐसा ज्ञाननेत्र वह तेरा स्वरूप है। ऐसे ज्ञानस्वरूप की श्रद्धा एवं अनुभव करना, वह कार्य है। परभाव का कर्तृत्व-भोक्तृत्व ज्ञान को सोंपना, वह तो बोझ है। कोई मनुष्य आँख से रेत उठवाना चाहे तो वह आँख को नष्ट करने के समान है; उसीप्रकार कोई जड़ का और पुण्य-पाप का कार्य ज्ञान से कराना चाहे तो उसे ज्ञान की श्रद्धा ही नहीं है। धर्मी तो अपने को विकाररहित ज्ञानमात्रभावरूप अनुभव करता है। शुद्ध दृष्टि की भाँति शुद्ध-ज्ञान (क्षायिकज्ञान) भी रागादि का अकर्ता-अभोक्ता है। क्षायिकज्ञान कहने से तेरहवें गुणस्थान की बात नहीं समझना; चौथे गुणस्थान से भी जो शुद्धज्ञानपरिणमन हुआ है, वह भी क्षायिकज्ञान की भाँति ही रागादि का अकर्ता एवं अभोक्ता है। ज्ञान का स्वभाव ही रागादि का अकर्ता-अभोक्ता है। अहो! मिथ्यात्व छूटने से जीव सिद्धसदृश है। जिसप्रकार केवलज्ञान होने से रागादि का कर्तृत्व-भोक्तृत्व किंचित् नहीं रहता, उसीप्रकार यहाँ भी ज्ञान का ऐसा ही स्वभाव है—ऐसा धर्मी जीव जानता है।

अहो! जिसप्रकार केवलज्ञान में राग का या पर का कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है; उसीप्रकार ज्ञान के किसी अंश में पर का या राग का कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है। आत्मा ऐसे ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण है। ज्ञान में ऐसा कोई बल नहीं है कि पर का कर दे... केवलज्ञान होने से ज्ञान की शक्ति खूब बढ़ गई, इसलिये ज्ञान पर में कुछ करे—ऐसा नहीं होता। भाई, तेरा ज्ञान तो अपने आनंद का उपभोग करनेवाला है, इसके सिवा पर को तो वह करता या भोगता नहीं है। ज्ञान की अनंत शक्ति प्रगट हुई, परंतु वह शक्ति करेगी क्या ? वह अपने पूर्ण आनंद का वेदन करेगी, परंतु पर में कुछ नहीं कर सकती। भाई, अनंतवीर्यसहित ऐसा जो क्षायिकज्ञान, उसमें भी पर को करने का भोगने की शक्ति नहीं है, तो अपने में तू यह बात कहाँ से लाया ? तुझे क्षायिकज्ञान की खबर नहीं है, इसलिये अपने ज्ञानस्वभाव की भी तुझे खबर नहीं है।

ऐसे ज्ञानस्वभाव को पहिचानकर जो शुद्धज्ञानपरिणतिरूप परिणमित हुआ, वह जीव क्या करता है ? कि बंध-मोक्ष को तथा उदय-निर्जरा को जानता ही है। कर्म की बंध-मोक्ष या उदय-निर्जरारूप अवस्था को ज्ञान जानता ही है। जिसप्रकार केवलज्ञान साता आदि के परमाणु आने या जाने से उन्हें मात्र जानता ही है, उसीप्रकार सर्वज्ञस्वभाव की दृष्टिवाला धर्मी जीव भी कर्म के बंध-मोक्ष को या उदय-निर्जरा को जानता ही है। रागादि को भी वह जानता ही है, परंतु उसका ज्ञान उस अशुद्धता के साथ एकमेक नहीं हो जाता, पृथक् ही रहता है।

द्रव्यस्वभाव में तो पर का कर्ता-भोक्तापना नहीं है; तथा उस स्वभाव की दृष्टिरूप जो निर्मल परिणति हुई, उसमें भी पर का कर्ता-भोक्तापना नहीं है। मैंने राग करके पुण्यकर्म का बंध किया और उस पुण्यफल को मैं भोगता हूँ—ऐसा धर्मी नहीं मानते; मैं तो ज्ञान ही हूँ—इसप्रकार धर्मी अपने को ज्ञानरूप ही अनुभव करता है।

तथा किसी अशुभकर्म का उदय आ जाये (जैसे कि-श्रेणिक को नरक में पापकर्म का उदय है) तो वहाँ भी धर्मी जीव उस अशुभकर्म के फलरूप अपना अनुभव नहीं करते; वे तो उससे भिन्न ज्ञानरूप ही अपने को मानते हैं; अपने आत्मिक आनंद का ही अनुभव करते हैं। जो शुभाशुभ है, उसके वेदन को अपने ज्ञान से भिन्न जानते हैं। जिसप्रकार सूर्य जगत के अमुक शुभाशुभ पदार्थों को राग-द्वेष बिना प्रकाशित ही करता है परंतु उन्हें करता या भोगता नहीं है, ऐसा ही उसका प्रकाशस्वभाव है; उसीप्रकार ज्ञानसूर्य आत्मा भी अपनी चैतन्य-किरणों द्वारा शुभाशुभकर्म के उदय को या निर्जरा को, बंध को या मोक्ष को जानता ही है, परंतु उसे करने-भोगने का उसका स्वभाव नहीं है। ज्ञान तो ज्ञानरूप से ही रहता है; ज्ञान का ज्ञातापन उसके अपने से ही है। कर्म की जो अवस्था होती है, उसे वह जानता है।—ऐसे ज्ञानस्वभावी आत्मा को जानकर उस ज्ञानस्वभाव की भावना करना चाहिये, ऐसा उपदेश है।

ज्ञानस्वभावी आत्मा, वह जीवतत्त्व है। बंध-मोक्ष या उदय-निर्जरारूप पुद्गलकर्म, वह अजीवतत्त्व है, उन दोनों की भिन्नता है। अहो, ऐसी भिन्नता की प्रतीति करके जो ज्ञानस्वभाव में उतरा, वह अतीन्द्रिय आनंद का महासुख मानता है।

[फाल्गुन शुक्ला एकादशी]

सम्यग्दर्शन के विषयरूप शुद्ध आत्मा कैसा है ? उसका यह वर्णन है। वह आत्मा कर्म के बंध-मोक्ष का या उदय-निर्जरा का कर्ता नहीं है।

'द्रव्यात्मलाभ' वह पारिणामिकभाव का लक्षण कहा है; अर्थात् द्रव्य का निजस्वरूप से अस्तित्व, सो द्रव्य-आत्मलाभ है। पारिणामिकभाव से द्रव्य सदा निजस्वरूप से एकरूप अस्तित्ववाला है। ध्रुवदृष्टि से देखने पर वस्तु ध्रुव है, उस ध्रुवदृष्टि में परिणमन दिखायी नहीं देता; परिणमन, वह पर्यायनय का विषय है।

द्रव्य-पर्याय दोनों को भावश्रुतज्ञानप्रमाण जानता है। स्वसंवेदनरूप भावश्रुतज्ञान में द्रव्य-पर्याय यथावत् ज्ञात होते हैं। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, यह दोनों उस भावश्रुत के अंश हैं—अवयव हैं—नय हैं।

ध्रुवभाव पर्याय को नहीं करता, पर्याय का कर्ता तो पर्यायधर्म है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय कैसा है ? कि सर्वविशुद्ध ऐसे परमपारिणामिक परमभाव का ग्राहक है, शुद्ध उपादानभूत है। रागादि का कर्तृत्व-भोक्तृत्व शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से जीव में नहीं है। निर्मल पर्याय या मलिन पर्याय द्रव्यार्थिकनय में नहीं आती; द्रव्यार्थिकनय में तो अकेला द्रव्य ही आता है; इस अपेक्षा से द्रव्यार्थिकनय में तो जीव को परिणाम से शून्य कहा जाता है। शुद्धपर्याय उस समय है अवश्य, परंतु द्रव्यदृष्टि में वह नहीं आती।

मोक्षमार्ग या मोक्ष, वह निर्मल परिणाम है, वह द्रव्यरूप नहीं है। द्रव्य को देखनेवाली दृष्टि में पर्याय नहीं आती। पर्याय, वह पर्यायार्थिकनय का विषय है। ऐसे द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु है-वह आगे कहेंगे। परस्पर सापेक्ष ऐसा द्रव्यपर्यायद्वय, सो आत्मपदार्थ है।

बंध और मोक्ष के कारण, वे दोनों पर्याय हैं; द्रव्यरूप ऐसा पारिणामिक परमभाव तो बंध-मोक्ष का कारण नहीं है। पारिणामिकभाव स्वयं सर्वथा पर्यायरूप हो जाये, तब तो पर्याय के साथ वह भी नाश को प्राप्त होगा।

ज्ञानी का अनादर, देव-गुरु की निंदा आदि कारणों से तीव्र दर्शनमोह का बंध होता है। ऐसे जो बंधकारण हैं, वे शुद्धजीव में नहीं हैं। ऐसे शुद्धजीव को सम्यग्दृष्टि देखता है। इसलिये यहाँ कहा कि—'सर्व विशुद्ध पारिणामिक परमभावग्राहक शुद्ध उपादानभूत शुद्धद्रव्यार्थिकनय से जीव कर्तृत्व-भोक्तृत्व से तथा बंध-मोक्ष के कारण एवं परिणामों से शून्य है।'

आठ कर्म या उनके बंधन के कारणरूप अशुद्ध परिणाम, वे शुद्धद्रव्यदृष्टि से जीव में नहीं हैं। और स्वसन्मुख होकर सम्यग्दर्शनादि मोक्षकारणरूप से परिणमित होती है, वह पर्याय भी शुद्धद्रव्यदृष्टि में नहीं आती, वह तो पर्यायदृष्टि का विषय है। परस्पर सापेक्ष ऐसे द्रव्य-पर्याय का युगल, सो आत्मवस्तु है।

मोक्ष का कारण या मोक्ष, बंध का कारण या बंध—इन सब अवस्थाओं के समय ध्रुवद्रव्य तो एकरूप ज्यों का त्यों है; पर्याय अनित्य है, द्रव्य नित्य है, उन दोनों की सापेक्षता द्वारा वस्तु सिद्ध होती है, अर्थात् दो नयों का विरोध नहीं रहता।

देखो, यह आत्मवस्तु को जानने की रीति।

आत्मा के पाँच भाव बतलाकर उनमें कौन से भाव बंध-मोक्ष के कारणरूप हैं, यह बात फिर समझायेंगे। एक क्षणिक अंश में बंधन था और दूर हुआ उससे संपूर्ण पुरुष तो उस बंध या मोक्ष जितना नहीं है—यह बात द्रव्यसंग्रह में भी बतलायी है।

यहाँ द्रव्यदृष्टि से जो शुद्धद्रव्य है, उसे देखना-जानना-अनुभव करना, सो मोक्षमार्ग है। शुद्धद्रव्यदृष्टि में बंध-मोक्ष पर्याय नहीं आती; इस अपेक्षा शुद्धद्रव्यार्थिकनय से जीव को परिणाम से शून्य कहा है। परंतु जीव सर्वथा परिणाम से शून्य नहीं है। द्रव्य और पर्याय कथंचित् भिन्न हैं, सर्वथा भिन्न नहीं हैं।

द्रव्य क्या, पर्याय क्या, ध्यान क्या, ध्येय क्या, उसे जाने बिना कुछ लोग कहते हैं कि—शून्य का ध्यान करना चाहिये; परंतु भाई! किसका ध्यान करेगा? सर्वथा शून्य का ध्यान हो नहीं सकता; सत् का ध्यान होता है। सत् कैसा है, उसकी पहिचान बिना ध्यान नहीं होता।

जयसेनाचार्य रचित इस टीका का नाम 'तात्पर्यवृत्ति' है; इसमें बतलाते हैं कि शास्त्र का तात्पर्य क्या है? ज्ञान का तात्पर्य क्या है? आत्मा का सारभूत स्वभाव क्या है कि जिसे लक्ष में लेने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-आनंद होता है। ऐसे तात्पर्यभूत साररूप आत्मस्वरूप का यह वर्णन है। कदाचित् सूक्ष्म मालूम हो, तथापि यह आत्मा के हित की प्रयोजनभूत बात है-ऐसा लक्ष में लेकर प्रयत्न करे तो अवश्य समझ में आ सकती है। जीव में केवलज्ञान प्राप्त करने की शक्ति है, तो अपनी ही बात उसकी समझ में न आये, यह कैसे हो सकता है? परंतु उसके लिये अंतर में तीव्र रुचि एवं आत्मा की लगन होना चाहिये।

आत्मा का नित्यस्थायी स्वभाव क्या और उसकी निर्मल पर्याय क्या? विकार क्या और पर क्या?—इन सब प्रकारों को यथावत् जानकर, उनमें अपने हित का कारण अर्थात् मोक्ष का कारण कौन है? उसकी यह बात है। आत्मा को समझने के लिये तथा उसे अनुभव में लेने के लिये उसकी मस्ती चढ़ना चाहिये। जिसप्रकार नशेबाज को अफीम आदि का नशा चढ़ता है; उसीप्रकार आत्महित के लिये उसके अनुभव का ऐसा नशा चढ़ना चाहिये कि दुनिया को बिल्कुल भूल जाये—

लागी लगन हमारी जिनजी लागी लगन हमारी;.....
काहू के कहे कबहुँ न छूटे लोकलाज सब डारी;
जैसे अमली अमल करत है लागी रहे खुमारी...
लागी लगन हमारी...

जिसे भगवान आत्मा की लगन लगी है, उसे उसकी मस्ती कभी नहीं उतरती। दुनिया क्या कहेगी, उसका विचार करने के लिये वह नहीं रुकता। अपने आनंदकंद स्वभाव में दृष्टि करने से जिन सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों का जन्म हुआ, वे अब वापिस नहीं लौटेंगी... अब तो केवलज्ञान लेकर ही रहेंगी।

देखो भाई, लोगों को विदेशी विद्या पढ़ने की महत्ता आती है, परंतु वे तो नास्तिक हैं। आत्महित की सच्ची अध्यात्म-विद्या तो अपने भारत देश में ही है और उसकी सच्ची महत्ता है। आत्मा की ऐसी बात कानों में पड़ना भी दुर्लभ है। दुर्लभ अवश्य है, परंतु मधुर अमृत जैसी बात है। उसे समझने से आत्मा में अतीन्द्रिय आनंद का अमृत झरता है।

आत्मा को शुद्धद्रव्यार्थिकनय से देखने पर वह परमपारिणामिकभावरूप दिखायी देता है। नय तो भावश्रुतज्ञान का अंश है, वह नय उपयोगात्मक है अर्थात् शुद्धद्रव्य को लक्ष में लेकर उसे ध्येय बनानेवाले शुद्धनय का उपयोग उस शुद्धद्रव्य की ओर ढला हुआ है और वह पर्याय है। त्रैकालिक द्रव्य का निर्णय त्रिकाल द्वारा नहीं होता, उसका निर्णय वर्तमान द्वारा होता है।

अनंतगुण सहज पारिणामिकभाव से जिसमें वर्तते हैं, ऐसे शुद्ध जीव को देखनेवाली पर्याय, सो शुद्धनय है। प्रगट हुए भावश्रुतज्ञान का जो उपयोग वर्तता है, वह नय है। ध्रुववस्तु का लक्ष तो पलटता हुआ ज्ञान करता है, कहीं ध्रुव स्वयं ध्रुव का लक्ष नहीं करता। भीतर शुद्धनय के द्वार में प्रविष्ट होकर मोक्ष का अनुभव करने की यह बात है।

शुद्धद्रव्य त्रिकाल ध्रुव सत् है; परंतु 'है' उसके अस्तित्व का निर्णय किसने किया? ध्रुव तो कार्यरूप नहीं है, कार्यरूप तो पर्याय है और वह पर्याय उपशमादिभावरूप है। ध्रुवस्वभाव वह पारिणामिक परमभाव है। द्रव्यात्मलाभरूप जो पारिणामिकभाव है, उसका कोई हेतु नहीं है।—ऐसे द्रव्य की ओर का जो ज्ञान का व्यापार अर्थात् अंतर्मुख उपयोग, वह शुद्ध द्रव्यार्थिकनय है। 'नय' वह भावश्रुतज्ञान का व्यापार है।

कर्तापना-भोक्तापना, वह पर्याय का कार्य है, द्रव्यदृष्टि में वह कर्तापना-भोक्तापना नहीं

है। आत्मा में पर का जो कर्ता-भोक्तापना नहीं है, राग का भी कर्ता-भोक्तापना आत्मा के स्वभाव में नहीं है, और निर्मल परिणाम का जो कर्ता-भोक्तापना पर्याय में है, वह भी शुद्धद्रव्यार्थिकनय की दृष्टि में नहीं आता। क्योंकि दोनों नयों के दो विषय हैं, वे परस्पर सापेक्ष हैं। शुद्धद्रव्य को देखनेवाला नय, वह तो निर्मल पर्याय है, उसमें आनंद का कर्ता-भोक्तापना है। बंध और बंध का कारण, मोक्ष और मोक्ष का कारण—वह सब पर्याय में है, द्रव्य में नहीं है; इस अपेक्षा जीव को उससे शून्य कहा है। जीव में बंधपना या मोक्षपना, वह त्रैकालिक नहीं है, परंतु क्षणिकपर्यायरूप है।

शुद्ध का लक्ष करनेवाला निर्मल परिणाम है, वह कहीं शून्य नहीं है, वह तो वीतरागी शांति की अस्तिरूप है, उसका कहीं अनुभव में अभाव नहीं होता। विकल्प का अभाव है, खेद का अभाव है, परंतु निर्मल पर्याय है, उसमें आनंद का अभाव नहीं है। त्रैकालिक का लक्ष करनेवाली वर्तमान पर्याय है; उसका अनुभव है। अनुभव की पर्याय त्रैकालिक शुद्धस्वभाव की ओर उन्मुख हुई है; शुद्धद्रव्य के लक्ष से वे परिणाम हुए हैं; वे परिणाम शुद्धद्रव्य की दृष्टि में नहीं हैं; इस अपेक्षा शुद्धजीव को बंध-मोक्ष के परिणाम से शून्य कहा है; और ऐसे शुद्धस्वभाव के लक्ष से जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई, उसमें विकल्प की—खेद की शून्यता है। शुद्धनय द्वारा ऐसे शुद्धजीव का अनुभव सो मोक्षमार्ग है।

['पाँच भाव संबंधी विशेष स्पष्टीकरण' अगले अंक में देखें।]

नीचगोत्र के आस्त्रव-हेतु

परनिंदा (दोष) चाहे वास्तविक हो या न हो, किंतु उसको प्रगट करने की जो इच्छा, उसे निंदा कहते हैं। दूसरों में विद्यमान दोष प्रगट करना अथवा झूठे दोष कहना परनिंदा है। अपने गुण प्रगट करने का अभिप्राय होना आत्मप्रशंसा है। अपने में गुण न होते हुए भी मैं सत्य बोलता हूँ, प्रामाणिक हूँ, इत्यादि गुणों का वर्णन करना स्व-प्रशंसा है। दूसरे लोगों में गुण होने पर भी उनके गुणों को ढँक देना और अपने में गुण न होने पर भी उनको प्रगट करना, उनकी वाहवाह करना, नीचगोत्र के आस्त्रव के कारण हैं। जो मनुष्य स्वयं की उच्चता की इच्छा से उपर्युक्त कारणों को करता है, वह कुगति-नीचगोत्र का बंध करता है।

धर्मात्मा

पूज्य स्वामीजी के ७९वें जन्मोत्सव पर गूँथी गई धर्मात्मा के अंतरंग-जीवन का आलेखन करती हुई ७९ पुष्पों की यह पुष्पमाला धर्मात्मा की पहिचान कराके उनके प्रति परमभक्ति जागृत करती है और आत्मा को धर्म का रंग चढ़ाती है। मुमुक्षुओं को यह पुष्पमाला अवश्य प्रिय लगेगी। —सम्पादक

१— धर्मात्मा का जीवन सम्यक्त्वरूपी अमूल्य रत्नों से अलंकृत है।
२— धर्मात्मा सर्वज्ञ परमात्मा को पहिचान कर जिनेश्वरनंदन हुए हैं।
३— धर्मात्मा आनंदमय मोक्षमार्ग में केलि करते हैं।
४— धर्मात्मा का सम्यग्ज्ञान केवलज्ञान की ही जाति का है।
५— धर्मात्मा ही सिद्ध परमात्मा के अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव करते हैं।
६— धर्मात्मा अनंत शक्तिसम्पन्न निजवैभव को जानकर ध्याते हैं।
७— धर्मात्मा को ही देव-गुरु की सम्यक् भक्ति होती है।
८— धर्मात्मा ही मुनिधर्म के सच्चे उपासक होते हैं।
९— धर्मात्मा का संग मुमुक्षु को आराधना का उत्साह जागृत करता है।
१०— धर्मात्मा की सच्ची पहिचान जीवों को परम दुर्लभ है।
११— धर्मात्मा के प्रति अर्पणता संसार के दु:खों का छेदन कर देती है।
१२— धर्मात्मा जहाँ विराजते हैं, वहाँ नित्य आनंद-मंगल वर्तता है।
१३— धर्मात्मा के अंतर में पंच परमेष्ठी का वास है।
१४— धर्मात्मा के हृदय से निकली हुई वाणी ही शास्त्र है।
१५— धर्मात्मा की परिणति परभाव से छूटकर निजभाव में मग्न है।
१६— धर्मात्मा के बिना धर्म नहीं है; धर्म धर्मात्मा के आश्रित है।
१७— धर्मा के प्रति जिसे भक्ति नहीं है, उसे धर्म का प्रेम नहीं है।
१८— धर्मात्मा उसे कहते हैं जो अंतर में निज वस्तुस्वभाव को साधे।

१९— धर्मात्मा जहाँ विराजमान हों, उस देश को, उस नगर को, उस घर को धन्य है।
२०— धर्मात्मा लाखों-करोड़ों जीवों के बीच अकेला भी शोभा देता है।
२१— धर्मात्मा की शोभा और महत्ता संयोग से नहीं परंतु सम्यक्त्वादि से है।
२२— धर्मात्मा ने सर्वज्ञ परमात्मा को अपने हृदय में पधराया है।
२३— धर्मात्मा का जीवन मुमुक्षु के आत्महित की प्रेरणा देता है।
२४— धर्मात्मा को देखकर मुमुक्षु के हृदय में आत्महित की तरंगें उल्लसित होती हैं।
२५— धर्मात्मा का सहवास महान सद्भाग्य से प्राप्त होता है।
२६— धर्मात्मा का जीवन ही सच्चा अभिनन्दनीय जीवन है।
२७— धर्मात्मा के प्रति भक्ति से मुमुक्षु के असंख्य प्रदेश रोमांचित हो उठते हैं।
२८— धर्मात्मा के जीवन का प्रत्येक क्षण आत्महित के लिये व्यतीत होता है।
२९— धर्मात्मा की परिणति प्रतिक्षण संसार को छेद रही है।
३०— धर्मात्मा की परिणति प्रतिक्षण मोक्ष की ओर दौड़ रही है।
३१— धर्मात्मा कहते हैं कि तू आत्मार्थ को साधने की धुन लगा।
३२— धर्मात्मा अध्यात्म की धुन से अंतर में अपना मार्ग ढूँढ़ लेते हैं।
३३— धर्मात्मा के प्रबल धर्म-संस्कार किसी भी संयोग में छूटते नहीं हैं।
३४— धर्मात्मा जगत की चिंता छोड़कर आत्मा की साधना करते हैं।
३५— धर्मात्मा अपने आत्महित के पथ पर निःशंक होकर चलते हैं।
३६— धर्मात्मा का धर्मवात्सल्य अद्वितीय एवं आश्चर्यजनक होता है।
३७— धर्मात्मा स्व-पर के हितरूप कारण-कार्य निःसंकोचतया प्रगट करते हैं।
३८— धर्मात्मा का अवतार जन्म-मरण के फेरे टालने के लिये है।
३९— धर्मात्मा रत्नत्रय द्वारा संसार को पार करते हैं। इसलिये स्वयं ही साक्षात् तीर्थ हैं।
४०— धर्मात्मा घोर प्रतिकूलता में से भी अपना मार्ग साध लेते हैं।
४१— धर्मात्मा को जगत की कोई प्रतिकूलता हितमार्ग से नहीं डिगा सकती।
४२— धर्मात्मा प्रतिकूलता में उलझ नहीं जाते परंतु पुरुषार्थ जागृत करते हैं।
४३— धर्मात्मा आत्मबल से निर्भय होकर आत्महित के मार्ग में लग जाते हैं।
४४— धर्मात्मा जगत की निंदा की परवाह किये बिना सत्मार्ग पर प्रयाण करते हैं।
४५— धर्मात्मा कहते हैं कि जगत से डरना नहीं और हितमार्ग को छोड़ना नहीं।

४६— धर्मात्मा का धैर्य और आत्मबल हमें आश्चर्यचकित कर देता है।
४७— धर्मात्मा की सहनशीलता और उनके वैराग्य की गंभीरता अजब है।
४८— धर्मात्मा प्रतिकूलता के प्रसंगों पर भी अपने तत्त्वनिर्णय से च्युत नहीं होते।
४९— धर्मात्मा का जीवन आत्महित के लिये सतत चिंतनशील होता है।
५०— धर्मात्मा के आत्माराधन के संस्कार साथ ही साथ रहते हैं।
५१— धर्मात्मा की आत्मधुन ऐसी है कि अन्य कार्य उसे जरा भी नहीं रुचते।
५२— धर्मात्मा कहते हैं कि—तू अन्य कार्यों को छोड़कर सच्ची आत्मधुन जागृत कर।
५३— धर्मात्मा की परिणति आत्महित साधने के लिये परम वैराग्यमय वर्तती है।
५४— धर्मात्मा को स्वभाव के प्रति संवेग और संसार के प्रति निर्वेग है।
५५— धर्मात्मा का हृदय चैतन्य के रंग में रंगा हुआ तथा संसार से अलिप्त है।
५६— धर्मात्मा बाह्य प्रतिष्ठा में या जानकारी में संतुष्ट नहीं होते।
५७— धर्मात्मा कहते हैं कि आत्मा को साधना हो तो अन्य से संतुष्ट नहीं होना।
५८— धर्मात्माओं के प्रताप से ही इस जगत में सुख का उपाय-मोक्षमार्ग है।
५९— धर्मात्मा ज्ञानमय भाव से बाहर कहीं अपना कर्तृत्व स्वीकार नहीं करते।
६०— धर्मात्मा निजभाव को छोड़ते नहीं और परभाव का ग्रहण नहीं करते।
६१— धर्मात्मा को संसार असार लगा है, एक स्वभाव ही सार लगता है।
६२— धर्मात्मा कारणपरमात्मा के आश्रय से निज परमात्म कार्य को साधते हैं।
६३— धर्मात्मा परम पंचमभाव को ध्याकर पंचमगतिरूप मोक्ष को साधते हैं।
६४— धर्मात्मा की सच्ची पहिचान रागरहित ज्ञान द्वारा होती है।
६५— धर्मात्मा की यथार्थ पहिचान करनेवाला जीव स्वयं धर्मी हो जाता है।
६६— धर्मात्मा की उपासना सम्यक्रूप से जीव ने कभी नहीं की है।
६७— धर्मात्मा की दृष्टि अष्ट-महागुणों द्वारा उज्ज्वलता से दीप्त हो उठती है।
६८— धर्मात्मा के अतीन्द्रिय सुखवेदन को अज्ञानी नहीं जानते।
६९— धर्मात्मा सिद्धभगवान के सुख का स्वाद लेते हैं।
७०— धर्मात्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की मोक्षमार्गरूप से उपासना करते हैं।
७१— धर्मात्मा सिद्धि और उसका साधन दोनों को अपने में देखते हैं।
७२— धर्मात्मा कहते हैं—हमें तो आत्मा ही अच्छा लगता है, दूसरा कुछ अच्छा नहीं लगता।

७३— धर्मात्मा स्वयं अनुभव किया हुआ तत्त्व कृपापूर्वक दूसरों को भी बतलाते हैं।

७४— धर्मात्मा मुमुक्षु जीवों का कल्पवृक्ष है।

७५— धर्मात्मा द्वारा दिया गया उपदेश सुनकर शुद्धात्मतत्त्व को उपादेय करके, मुमुक्षु मोक्षमार्ग को साध लेता है।

७६— धर्मात्मा ने जिस आनंदमय परमतत्त्व का अनुभव किया है, वह हमें भी प्राप्त हो।

७७— गुणवंत ज्ञानी... अमृत बरसाया पंचम काल में....

७८— भूतार्थ के आश्रय से सुखी होने का उपाय ज्ञानी ने स्वयं देखा है, दिखाया है।

७९— धर्मात्मा के पुनीत चरणों में वंदना हो शत-शत 'हरि' की।

केवलज्ञान को बुला रहे हैं

हे प्रभो वर्द्धमान जिनेन्द्र!

ऋजुवालिका नदी के किनारे वैशाख शुक्ला १०वीं के दिन क्षपकश्रेणी द्वारा सर्वज्ञता को श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन विपुलाचल पर समवसरण में उसका जो बोध आपने दिया; गौतमस्वामी, सुधर्मस्वामी, जम्बूस्वामी, भद्रबाहुस्वामी, धरसेनस्वामी, कुन्दकुन्दस्वामी जैसे वीतरागी संतों ने जिस बोध को झेलकर भव्य जीवों के लिये संग्रहित किया, अटूट परंपरा से धाराप्रवाहरूप वह बोध आज हमें भी पूज्य श्री कानजीस्वामी द्वारा प्राप्त हो रहा है और हम आपके अतीन्द्रिय अमृत का प्रसाद ले रहे हैं। वह अमृत आपकी सर्वज्ञता की प्रतीति उत्पन्न करता है। प्रभो! आपके प्रति परम भक्ति एवं विनय से उस सर्वज्ञता की प्रतीति द्वारा अपने आत्मा में केवलज्ञान को बुला रहे हैं... अंश द्वारा अंशी को बुला रहे हैं।

श्री 'षट्खंडागम' के नववें ग्रंथ में कहा है कि विनयवान शिष्य मतिज्ञान के बल से केवलज्ञान को बुलाता है; उसीप्रकार विनय से आपकी सर्वज्ञता के बहुमान द्वारा हम अपने केवलज्ञान को बुला रहे हैं।

सर्व उपदेश का संक्षिप्त सार

[स्वतत्त्व को प्रमेय करने की प्रेरणा]

जीव जुदा पुद्गल जुदा यही तत्त्व का सार;
अन्य कछू व्याख्यान जो, याही का विस्तार।

श्री पूज्यपादस्वामी इष्टोपदेश की ५०वीं गाथा में सर्व शास्त्रों का संक्षिप्त रहस्य बतलाते हुए कहते हैं कि—जीव और पुद्गल की भिन्नता जानकर स्वतत्त्व का ग्रहण करना ही सर्व तत्त्व का सार है और अन्य जो भी उपदेश है, वह सब इसी का विस्तार है। जीव-पुद्गल को भिन्न जानकर स्वतत्त्व को किस प्रकार प्रमेय करना तथा स्वतत्त्व को प्रमेय करने से अन्तर में क्या होता है ? उसका अति सरस वर्णन पूज्य स्वामीजी ने इस प्रवचन में किया है।

जीव-पुद्गल की भिन्नता जानकर रागादि से पार ऐसे शुद्ध आत्मा को अनुभव में लेना ही सर्व शास्त्रों का सार है। ज्ञानस्वभावी आत्मा में प्रमेयत्व स्वभाव भी है, इसलिये ज्ञान को अंतर्मुख करने से वह प्रमेय होता है।

कोई पूछे कि - आत्मा जानने में आ सकता है ?

तो कहते हैं कि-हाँ; क्योंकि आत्मा में प्रमेय होने का अर्थात् ज्ञान में ज्ञात होने का स्वभाव है और जानने का भी उसका स्वभाव है। इस प्रकार आत्मा स्वयं अपने को जान सकता है।

आत्मा का सत्पना-सत्यपना शरीरादि से भिन्न है, रागादि से भी सत्स्वभाव पृथक् है; आत्मा तो ज्ञान-आनंद स्वभावी है। उसमें अनंत गुणों का समावेश होता है। ऐसे गुणवान आत्मा में उपयोग को एकाग्र करके निवास करना, सो निजगृह में जाना वास्तु-प्रवेश है। अनंत गुणमय जो भूतार्थ स्वभाव, वह आत्मा का निजगृह है। स्व को प्रमेय करके आत्मा कभी निजगृह में नहीं आया, बाह्य में देखता रहा है।

भाई, तू शरीर को देखने का प्रयत्न करता है, परंतु उससे तो तू पृथक् है। बाह्य पदार्थों को देखने के लिये अनंत काल से प्रयत्न कर रहा है, परंतु उनसे पृथक् अंतर में तू कौन है–ऐसा देखने का प्रयत्न कभी किया है ?..... अपने स्वज्ञेय को जान ले तो तुझे संपूर्ण भगवान आत्मा का निर्णय एवं ग्रहण होगा... तेरे ज्ञान में भगवान आत्मा परिपूर्ण आ जायेगा।—इसी से सर्व शास्त्रों का सार आ जाता है।

शरीर से तथा राग से भिन्न कोई चैतन्यस्वरूप तुझमें है, उसे तू देख! स्वज्ञेय को जाने बिना तुझे सम्यग्ज्ञान नहीं होगा। पुद्गल भिन्न है, रागादि भी भिन्न है, शेष जो अनंत गुण संपन्न चैतन्य, सो मैं हूँ—ऐसा निर्णय होने पर, पर से पृथक् करके चैतन्य का ग्रहण होता है। ऐसा चैतन्य गृह तेरा घर है! अन्य जो पुद्गल गृह हैं, वे तेरे घर नहीं हैं। स्व–गृह को जानकर उसमें निवास कर।—इसप्रकार निजगृह बतलाकर संत उसमें निवास कराते हैं।

आत्मा और उसके अनंत गुण–वे सब अंतर्मुख उपयोग द्वारा ज्ञान में प्रमेय हों, ऐसे हैं; तथापि ऐसा कहना कि 'मेरा आत्मा मुझे ज्ञात नहीं होता'—तो उसमें प्रमेय स्वभावी आत्मा का तथा उसके अनंत गुणों का निषेध होता है।

भाई, संत तुझे तेरा आत्मा पर से पृथक् करके बतलाते हैं कि ऐसा तेरा आत्मा है! तो उसे स्व–पर के विभाग करके पृथक् लक्ष में ले। वह तेरे स्वसंवेदन में ज्ञात होगा।

जो स्व–पर के भिन्नत्व को जाने, उसका लक्ष आत्मा पर जाता है। जिसप्रकार काँच के टुकड़ों में मूल्यवान हीरा पड़ा हो, और कोई जौहरी उसे भिन्न करके बतलाये कि—देखो, यह काँच के टुकड़े हैं और यह हीरा है... तो वहाँ दोनों को पृथक् जाननेवाले की दृष्टि कहाँ स्थिर होगी ?—हीरे पर उसकी दृष्टि जायेगी और काँच के टुकड़ों को हेय मानने लगेगा।

उसीप्रकार काँच के टुकड़े समान जड़ शरीर एवं रागादि भावों के बीच यह चैतन्य हीरा पड़ा है। संत अलग–अलग करके बतलाते हैं कि—यह शरीरादि जड़–पुद्गल तथा यह रागादि परभाव तू नहीं है; तू तो उन सबसे भिन्न लक्षणवाला नित्य चैतन्य–प्रकाश से जगमगाता चैतन्यहीरा है;—इस प्रकार दोनों की भिन्नता जानने पर जाननेवाले की दृष्टि कहाँ स्थिर होगी ?—वह रागादि या शरीरादि के प्रति झुकेगा अथवा चैतन्यरत्न पर उसकी दृष्टि जायेगी ? उसकी दृष्टि पुद्गल शरीर एवं रागादि से हटकर अपने अचिंत्य चैतन्यरत्न पर ही लगेगी।—इसप्रकार ज्ञानी स्वसंवेदन से स्वतत्त्व को ग्रहण करता है।

—ऐसा ग्रहण करके आत्मा को स्वज्ञेय बनाने से उसमें अतीन्द्रिय आनंद, प्रभुता, सर्वज्ञता आदि स्वभावों का भी ग्रहण होता है; वे भी साथ में स्वज्ञेयरूप से ज्ञात होते हैं और वहाँ रागादिभाव अपने में अभूतार्थरूप से ज्ञात होते हैं। (इसप्रकार व्यवहार अभूतार्थ है; वह व्यवहार उस काल जानने में आता है, परंतु ज्ञानी स्वज्ञेय में उसका ग्रहण नहीं करते; स्वज्ञेयरूप से तो शुद्ध आत्मा को ही लेते हैं और विभावों को स्वज्ञेय से बाहर रखते हैं।)

देहादि से तथा रागादि से भिन्न ऐसे चैतन्यवस्तु को जहाँ स्वज्ञेय बनाया, वहाँ उसके अनंत गुण अपने-अपने स्वकार्य सहित ज्ञान में ज्ञात हो जाते हैं; भूतार्थ स्वभाव की दृष्टि में आत्मा के समस्त धर्म स्वसंवेदन में व्यक्त होते हैं। अहा, ऐसा महान स्वज्ञेय! उसे भूलकर आत्मा परज्ञेय के जानने में भटकता है। भाई, जो पदार्थ तुझसे पृथक् हैं, उनकी ओर देखने से तुझे क्या लाभ है? अनंत गुणों का भंडार जिसमें भरा है, ऐसे आपने में ही तू देख! अपने आत्मा को स्वज्ञेयरूप से जानकर उसमें तन्मय होने से तुझमें विद्यमान अनंत गुण तुझे प्रमेयरूप से ज्ञात होंगे और उन सब गुणों का निर्मल कार्य प्रगट होगा। स्वज्ञेय में अतीन्द्रिय आनंद साथ आयेगा, श्रद्धा साथ आयेगी, प्रभुता साथ आयेगी, विभुता का वैभव साथ आयेगा—इसप्रकार संपूर्णरूप से भगवान आत्मा का ग्रहण होगा।

अरे वीर! अरे धीर!! शांत होकर, शांतभाव से अंतर में अपने आत्मा को देख। घी अर्थात् बुद्धि ज्ञान, उसे जो अंतर में प्रेरित करे, वह धीर है। बुद्धि को बाह्य में ही लगाये रहे और स्वज्ञेय को जानने में न ले जाये तो उस बुद्धि को वास्तव में बुद्धि नहीं कहते परंतु कुबुद्धि कहते हैं। सुबुद्धि तो उसे कहते हैं कि जो अंतर में स्व-पर को भिन्न करके, अपने आत्मा को ज्ञान में ग्रहण करे।

ज्ञानी संपूर्ण आत्मा को स्वज्ञेय में ग्रहण करते हैं और पर के अंशमात्र को ग्रहण नहीं करते।—इसप्रकार भेदज्ञान द्वारा स्व का ग्रहण, वह सर्व शास्त्रों का सार है। संतों ने विस्तार करके जो समझाया, वह सब इसी का विस्तार है। दो तत्त्वों को भिन्न कहने से दोनों के कार्य भी भिन्न ही हैं—यह बात उसमें आ जाती है।

आत्मा ज्ञात नहीं होता-तो क्या आत्मा में प्रमेय स्वभाव नहीं है? प्रमेय स्वभावी आत्मा स्वयं अपने को स्वसंवेदनज्ञान से साक्षात् जानता है। पुद्गल से आत्मा भिन्न है, इस बात को पुद्गल भले ही न जाने, परंतु तू उसे जानकर अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा की ओर उन्मुख हो...

और उस निजगृह में निवास कर। ऐसे आत्मा को जहाँ स्वज्ञेयरूप से लक्ष में लिया, वहाँ संपूर्णरूप से (अर्थात् आनंद प्रतीति आदि सर्व गुणों सहित) आत्मा का ग्रहण हुआ। इस सर्वज्ञस्वभावी आत्मा को स्वज्ञेय बनाने से अब सर्वज्ञता ही होगी... इस संबंध में ज्ञानी निःशंक हैं। अनंत गुणसहित आत्मा का जो संपूर्णरूप, उसे ज्ञानी ने ग्रहण किया, वहाँ अपना सर्व आत्माओं का सर्वज्ञस्वभाव उसे श्रद्धा-ज्ञान में आ गया; उनका ज्ञान सर्वज्ञता की ओर दौड़ने लगा... अब अल्प काल में सर्वज्ञता प्रगट हो जायेगी। पर के आधार बिना ही प्रभुता प्रगट होती है; स्वाधीनरूप से सर्वज्ञता प्रगट होती है—ऐसे स्वभाव को तू प्रतीति में ले तो उसमें सर्वज्ञशास्त्रों का सार समा जाता है। अहो, जिस ज्ञान ने अंतरोन्मुख होकर आत्मा को स्वज्ञेय बनाया, उसने अनंत गुण के कार्यसहित संपूर्ण आत्मा का ग्रहण किया... उसकी परिणति धारावाहीरूप से केवलज्ञान की ओर चल पड़ी।

संक्षेप में, स्व-पर की भिन्न को जानकर स्व-द्रव्य का ग्रहण करना, वह सर्व तत्त्व का सार है। पश्चात् विस्तार से समझने की रुचिवाले जीवों के लिये जो कुछ विशेष व्याख्यान है, वह सब इसी का विस्तार है और वह भी प्रशंसनीय है। इसप्रकार जीव-पुद्गल का भेदज्ञान करके अपने में तन्मय होकर तू अपने को जान... वह सर्व तत्त्व का सार है।

कहीं अच्छा न लगे तो

हे जीव! तुझे कहीं अच्छा न लगता हो तो सब जगह से अपने उपयोग को हटाकर आत्मा में लगा...! आत्मा आनंद से परिपूर्ण है, इसलिए वहाँ तुझे जरूर अच्छा लगेगा... आत्मार्थी को संसार में कहीं अच्छा नहीं लग सकता, परंतु एक आत्मा में जरूर अच्छा लगेगा; इसलिए तू आत्मा में उपयोग लगा और आनंद का अनुभव कर!

(पूज्य बेनश्री-बेन के उद्गार)

परम शांतिदायिनी

अध्यात्म-भावना

[आत्मधर्म की सरल लेखमाला]

लेखांक ३७] [अंक २७६ के आगे

भगवान श्री पूज्यपादस्वामीरचित 'समाधिशतक' पर पूज्य गुरुदेव के अध्यात्मभावना भरपूर वैराग्यप्रेरक प्रवचनों का सार।

शरीर से भिन्न ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा क्या है और उसका अनुभव कैसे हो ?— उसका वर्णन श्री पूज्यपादस्वामी ने इस 'समाधिशतक' में सरल ढंग से किया है। जिन्हें आत्मा के अतीन्द्रिय सुख की अभिलाषा है, ऐसे जीवों के लिये रागादि से भिन्न शुद्ध आत्मस्वरूप का वर्णन किया है। वस्त्र के दृष्टांत द्वारा शरीरादि से भिन्न आत्मस्वरूप बतलाकर कहते हैं कि—जिनका उपयोग ऐसे आत्मस्वरूप में लगा है, वे ही परम शांति-सुख का अनुभव करते हैं-दूसरे नहीं। ऐसा अनुभव करनेवाले ज्ञानी कैसे होते हैं ?-तो कहते हैं कि—

यस्य सस्पंदमाभाति निःस्पंदेन समं जगत्।
अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति नेतरः ॥६७॥

जिस ज्ञानी को शरीरादि की अनेक क्रियाओं द्वारा सस्पंद ऐसा यह जगत काष्ठादि समान निस्पंद एवं जड़ भासित होता है, वही परम वीतरागी सुख का अनुभव करता है; उसके अनुभव में इन्द्रियों के व्यापाररूप क्रिया नहीं है, और न इन्द्रिय-विषयों का उपभोग है। उपयोग जहाँ अंतरोन्मुख होकर आत्मा के आनंदानुभव में एकाग्र हुआ, वहाँ शरीरादि की ओर का लक्ष ही छूट जाता है, इसलिये उसे तो यह जगत निश्चेतन भासित होता है।—ऐसे ज्ञानी ही अंतर्मुख उपयोग द्वारा आत्मिक सुख का अनुभव करते हैं; मन-वचन-काया की क्रिया को अपनी माननेवाला अज्ञानी बहिरात्मा जीव, चैतन्य के परम सुख का अनुभव नहीं कर सकता।

ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा अशरीरी है; उसे साधनेवाले जीव को जहाँ शुभ का भी रस नहीं है, वहाँ अशुभ परिणाम की तो बात ही क्या ? जिसे आत्मा के स्वरूप की रुचि हुई, उसे संसार का तथा शरीर का राग दूर हुए बिना नहीं रहता; परभाव की किंचित् प्रीति उसे नहीं रहती। यहाँ

तो कहते हैं कि चैतन्यस्वरूप में जिसकी दृष्टि निस्पंद हुई है—स्थिर हुई है, ऐसे ज्ञानी को सस्पंद ऐसा यह जगत भी निस्पंद-समान भासित होता है; जगत की क्रियाओं के साथ का अपना संबंध छूट जाने के कारण उसे अपने अनुभव से भिन्न देखता है। मेरी चेतना का एक अंश भी पर में दिखायी नहीं देता; मेरा सर्वस्व मुझमें ही है;—इसप्रकार ज्ञानी अपने आत्मा को जगत से असंग अनुभव करता है।

भाई, तुझे अपने आत्मा का अनुभव करना हो तो तू जगत को अपने से अत्यंत भिन्न अचेतन समान देख... अर्थात् तेरी चेतना का या तेरे सुख का एक अंश भी उसमें नहीं है—ऐसा जान। जगत में तो दूसरे अनंत जीव हैं, सिद्धभगवान हैं, अरिहंत हैं, मुनिवर हैं, धर्मात्मा हैं; अनंत जीव एवं अजीव पदार्थ हैं और उन सबकी क्रिया उनमें होती रहती है, परंतु यह आत्मा जहाँ अपने उपयोग को स्वानुभव की ओर झुकाता है, वहाँ संपूर्ण जगत शून्यवत् भासित होता है; जगत तो जगत में है ही, परंतु इसका उपयोग उन परपदार्थों की ओर से हट जाने के कारण, उसमें अपने आत्मा का ही अस्तित्व है और जगत शून्य है। उपयोग को अंतर्मुख करके इसप्रकार आत्मा का पर से शून्य अनुभव करे, वही आत्मा के परम सुख को भोगता है—अन्य जीव आत्मा के सुख का उपभोग नहीं कर सकते। आत्मा के अतीन्द्रिय सुख के अभिलाषी जीव को जगत की क्रिया से पार अपने ज्ञानानंदस्वरूप को जानना चाहिये ॥६७॥

** ** **

['समाधिशतक' गाथा-६८]

बहिरात्मा जीव, शरीरादि से भिन्न आत्मा को नहीं जानता; इसलिये वह संसार में भटकता है—यह बात अब कहते हैं:—

शरीरकंचुकेनात्मा संवृतज्ञानविग्रहः।
नात्मानं बुध्यते तस्माद्भ्रमत्यतिचिरं भवे॥६८॥

आत्मा तो चैतन्यशरीरी अतीन्द्रिय है, उसमें अंतर्मुख होकर उसे जो ध्येय नहीं बनाता, वह आत्मा को नहीं जानता परंतु शरीरादि को या रागादि को ही आत्मा मानता है; उसका ज्ञानशरीर, कर्मरूपी केंचुली से ढँक गया है, अर्थात् आत्मा की ओर न होकर कर्मों की ओर ही उसका झुकाव है और इसलिये वह संसार में परिभ्रमण कर रहा है। जिसप्रकार केंचुली वह सर्प नहीं है; उसीप्रकार इस चैतन्यस्वरूप आत्मा को कर्म की ओर के झुकाव से जो राग-द्वेष-

मोहरूप केंचुली है, वह उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है; उस केंचुली के कारण अज्ञानी को आत्मा के सच्चे स्वरूप की पहिचान नहीं होती, इसलिये रागादि को ही आत्मा मानकर वह स्वयं अपने चैतन्यस्वरूप को आवरण से ढँककर चार गतियों में परिभ्रमण करता है। उसे भगवान ने उपदेश दिया है कि हे जीव! तेरा चैतन्यतत्त्व, रागादि से रहित एवं शरीरादि से भिन्न है, उसमें तू अंतर्मुख हो। अपनी ही भूल से तू संसार में भटक रहा है... उस भूल को निकाल और चिदानन्दस्वरूप आत्मा को सँभाल तो तेरा भवभ्रमण मिट जाये और मोक्ष की प्राप्ति हो।

जिसप्रकार पानी में नमक मिल जाने से वह खारा लगता है, वहाँ वास्तव में पानी का स्वभाव खारा नहीं है, खारा तो नमक है; उसीप्रकार आत्मा में कर्म की ओर के झुकाव से राग-द्वेष-मोहरूप आकुलता का वेदन होता है; वह आकुलता वास्तव में आत्मा के चैतन्यस्वभाव का स्वाद नहीं है, वह तो कर्म की ओर के झुकाववाले विकारीभाव का स्वाद है। मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ, ज्ञान और आनंद ही मेरा शरीर है-ऐसी अंतरस्वरूप की सावधानी करने से चैतन्य के स्वाद का अनुभव होता है; परंतु अज्ञानी जीव, भ्रांति के कारण उसे नहीं जानता और कर्म की ओर झुकाववाले रागादिरूप स्वाद को ही वह आत्मा का स्वाद मानता है। राग, वह धर्म नहीं है-ऐसा कदाचित् धारणा से कहे, परंतु अंतर में वह राग के वेदन से पृथक् नहीं होता; सूक्ष्मरूप से राग की मिठास में ही वह अटक गया है, परंतु राग से पार होकर ज्ञानभाव का अनुभव नहीं करता। जब तक राग से पार ज्ञानानंदस्वरूप को न जाने, तब तक वह अज्ञानी बहिरात्मा, संसार में ही परिभ्रमण करता है ॥६८॥

बहिरात्मा यथार्थ आत्मस्वरूप को नहीं जानता, तो वह किसे आत्मा मानता है ? वह अब कहेंगे।

शीघ्रता

संसार में प्रतिक्षण एवं प्रतिपल जो अनित्यता की घटनाएँ हो रही हैं, वे हमें झकझोरती हैं कि अरे जीव! जितनी शीघ्रता से काल व्यतीत हो रहा है, उससे भी शीघ्रता से तू अपना आत्महित साध ले। समय की प्रतीक्षा करते हुए रुक मत।

अकेला

आत्मा का पर से भिन्न एकत्व स्वरूप बतलाकर, वैराग्य-रस का सिंचन करते हुए चैतन्य की आराधना की प्रेरणा देते हुए संत कहते हैं कि—हे जीव! चार गति के भ्रमण में या मोक्ष की आराधना में तू अकेला ही है, अन्य कोई तेरा साथी नहीं है;—ऐसा एकत्वस्वरूप जानकर तू अकेला अपने परमतत्त्व में ही स्थित रह।

नियमसार गाथा १०१ में एकत्वभावना का वर्णन करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि—

एगो य मरणि जीवो एगो ए जीवदि सयं।
एगस्य जादि मरणं एगो सिज्झदि णिरयो॥१०१॥

अनादि-अनंत काल से अकेला आत्मा अन्य किसी की सहायता के बिना नि:सहायरूप से स्वयं संसार या मोक्षरूप परिणमित हो रहा है। संसार में प्रत्येक जीव की आयु स्थिति प्रति समय अल्प हो रही है, अर्थात् आयु की हानिरूप मरण प्रति समय हो रहा है। आयु के रजकण प्रति क्षण दौड़ते जाते हैं, उन्हें इन्द्र भी नहीं रोक सकते। इन्द्रों की आयु भी प्रति समय क्षय को प्राप्त होती रहती है। आयु पूर्ण होने पर एक भव से दूसरे भव में जाते हुए जीव को क्या कोई रोक सकता है?—नहीं; वह असहायरूप से संसार में जन्म-मरण करता है। अपने आत्मस्वभाव की प्रतीति करके यदि वह मोक्ष को साधना चाहे तो वह भी पर की सहायता के बिना अकेला ही कर सकता है। संसार परिभ्रमण में या मोक्ष की साधना में जीव अकेला ही है।

रात को सोनेवाला यह जीव सवेरे उठेगा या नहीं—ऐसा विश्वास भी क्षणभंगुर जीवन में नहीं किया जा सकता। महान सम्राट रात को सोया और सवेरे जीवित नहीं उठा! रात्रि में कब उसे मृत्यु उठा ले गई—इसका भी लोगों को पता नहीं चला। कदाचित् हजारों-लाखों सेवक और बड़े-बड़े वैद्य-डॉक्टर सामने खड़े हों, तब भी वे जीव को मृत्यु से छुड़ाने में समर्थ नहीं हैं... इसलिये ऐसी असहायता को समझकर हे जीव! तू अपने एकत्वस्वभाव को पर से पृथक्

देख। भाई, अपने चिदानंद-गृह को तू देख तो सही!... उसके अपार वैभव को देखकर तू अकेला ही सिद्धि को प्राप्त होगा; उसमें किसी अन्य की सहायता की आवश्यकता नहीं रहेगी। भगवान! असह्य एवं क्षणभंगुर ऐसे इस संसार के भाव से विरक्त होकर तू अकेला ही अपने सिद्धपद को साध।

आयु के क्षयरूप मरण तो अवश्य होनेवाला ही है। यद्यपि ज्ञानानंदस्वभाव से तो जीव अनादि-अनंत है, उसका कभी नाश नहीं होता; ऐसे अनादि-अनंत ज्ञानानंदस्वभाव को जाने तो सादि-अनंत ऐसे सिद्धपद की साधना करे—कि जहाँ कभी मरण या जन्म नहीं है। अरे, ऐसे अशरीरी ज्ञानानंदस्वरूपी आत्मा को संसार में शरीर धारण करके भव-भव में भटकना पड़े, यह तो शर्म है!—उससे छूटकर अशरीरी होने की यह बात है।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की आयु ७०० वर्ष की थी; उसमें चक्रवर्तीपद का काल तो उससे कम ही था। वहाँ से मर कर वह सातवें नरक में ३३ सागरोपम की आयु लेकर उत्पन्न हुआ। इसलिये चक्रवर्तीपद के एक-एक क्षण के विरुद्ध उसने असंख्यात वर्ष नरक का दु:ख सहन किया। यहाँ चक्रवर्तीपने में भी कोई उसका सहायक नहीं था; स्वयं अकेले ने ही उसके उपभोग का भाव किया और मरकर अकेला नरक में गया, वहाँ अनंत दु:ख अकेला ही भोग रहा है; तथा स्वभाव की साधना द्वारा मोक्ष प्राप्त करेगा, तब अकेला ही वहाँ जायेगा।

भाई, संत तुझे तेरा एकत्व बतलाकर स्वाश्रित मोक्षमार्ग साधने को कहते हैं... तू अकेला है; जगत में तुझे किसकी ओर देखकर अटकना है? पराश्रय से तू अनंत जन्म-मरण किये, अब तो उनका पल्ला छोड़! अब तो स्वाश्रय करके सिद्धि के पद पर चढ़! श्रीगुरु तुझे अपना स्वाश्रित चैतन्यपद बतलाकर उसका आश्रय कराते हैं, तो श्रीगुरु के प्रसाद से तू अकेला स्वात्माश्रित परिणाम द्वारा अपने सिद्धपद की साधना कर! अपने मोक्ष को साधने में भी तू अकेला ही है... अपने सिद्धपद को साधने के लिये तू बाह्य से विमुख होकर अंतरोन्मुख हो... ऐसा संतों का बारंबार उपदेश है।

अरे जीव! सिद्धपद को साधने का ऐसा अवसर मिला है, अब तू चूकना मत... सिद्धपद का भंडार तुझमें ही भरा है, अंतर्दृष्टि से उसे खोल इतनी देर है। अपने सिद्धपद के लिये तुझे किसी दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं है और न कोई दूसरा तुझे रोक सकता है। तू अंतर्मुख होकर निजात्मा का आश्रय ले। तीर्थस्थान पर अथवा सिद्धक्षेत्र में जाकर भी

साधना तो निजात्मा के आश्रय से ही होती है; निजात्मा के आश्रय बिना कहीं सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।

अपने परिणामरूप कर्म को आत्मा ही स्वयं करता है; वह स्वयं ही उसके फल को भोगता है; कोई दूसरा उसके परिणाम को कराता नहीं है अथवा उसके फल को भोगता नहीं है। ऐसा एकत्वस्वभाव अनादि-अनंत है। अपने परिणाम में संसार के या मोक्ष के भाव करके उसके फल को जीव अकेला ही भोगता है। स्त्री-पुत्रादि के लिये जो पाप किये, उसका फल भोगने के लिये कहीं वे साथ नहीं आते। अपने परिणामों का फल तुझे ही भोगना है—ऐसा जानकर हे जीव! तू पर परिणामों से विमुख होकर अपने निजस्वभाव में अपने परिणाम को लगा... जिससे तू अकेला ही अपने में अपने परम आनंद का उपभोग करेगा।

स्वयं किये हुए कर्म के फलानुबंध को स्वयं भोगने के लिये तू अकेला जन्म में तथा मृत्यु में प्रवेश करता है; कोई (स्त्री-पुत्र-मित्रादिक) सुख-दुःख के प्रकारों में किंचित् सहायभूत नहीं होता; वे तो मात्र अपनी आजीविका के लिये ठगों की टोली की भाँति तेरे साथ चल रहे हैं; उनकी सहायता लेने जायेगा तो लुट जायेगा... तेरी चैतन्यसंपदा छिन जायेगी; इसलिये उनकी ओर मत देख... अपने स्वरूप में दृष्टि डाल।

जिनके बुलाने पर हजार देव दौड़े आते थे—ऐसे महान त्रिखंडाधिपति को पीने के लिये पानी नहीं मिला और सगे भाई के हाथों बाण से मृत्यु हुई! अरे, संसार में कौन शरणभूत है! हजार देव भी कदाचित् पास खड़े हों, तथापि वे सहायक नहीं हो सकते; त्रिखंडाधपिति द्वारिका नगरी को जलने से नहीं बचा सके; माता-पिता को नगरी से बाहर नहीं निकाल सके!.... इसलिये ऐसे अशरण संसार की ओर से वृत्ति हटाकर तू अपने चिदानंद तत्त्व की आराधना में अपना चित्त लगा। मोह के कारण तू अपने स्व-सुख से विमुख हुआ था; अब स्वभावोन्मुख होकर अपने सुख का उपभोग कर। आत्मा की एकत्व भावना में ही ऐसा सुख है।

आत्मा की ऐसी एकत्वभावना में परिणमित सम्यग्ज्ञानी कैसे होते हैं? वे अपने आत्मा का कैसा अनुभव करते हैं? तो कहते हैं कि—

एको मे सासदो आप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥१०२॥

सांसारिक विकल्पों के कोलाहल से रहित ऐसी मेरी सहज शुद्ध ज्ञानचेतना का में

अतीन्द्रिय आनंदसहित उपभोग करता हूँ और मेरे अनुभव में आया हुआ जो शाश्वत ज्ञान-दर्शनमय एक-स्वभाव, उसके सिवा अन्य सब परभाव मुझसे बाह्य हैं।—ऐसे निजस्वरूप का ज्ञानी एकत्वभावना द्वारा अनुभव करता है।

एक थाली में एक साथ बैठकर जीमनेवाले तीन व्यक्तियों में से एक उसी भव में मोक्ष जानेवाला होता है, एक स्वर्ग में जाता है और एक नरक में जाता है;—इसप्रकार अपने परिणामों से जीव अकेला ही स्वर्ग-नरक में या मोक्ष में जाता है। अरे, मेरा एकत्व चैतन्यतत्त्व—जिसमें विकल्पों का कोलाहल नहीं है, जिसमें दूसरों का संयोग नहीं है;—ऐसे परमतत्त्व को स्वानुभव में लिये बिना भवभ्रमण का अन्त नहीं आ सकता। इसलिये अकेला—असंग होकर अंतर की गुफा में परमतत्त्व को ढूँढ़ और उसमें स्थिर हो... जिससे तुझ अकेले को अपने मोक्षसुख का अपने में अनुभव होगा।

जयपुर में:

नवीन जैन छात्रावास

राजस्थान विश्वविद्यालय एवं सभी उच्च शिक्षा संस्थाओं के निकट बापूनगर, जयपुर में स्थित टोडरमल स्मारक भवन में १ जुलाई, १९६८ से छात्रावास आरंभ हो रहा है, जिसमें दिगम्बर जैन धर्म में श्रद्धा रखनेवाले छात्र प्रवेश पा सकेंगे। विशेष जानकारी कार्यालय से प्राप्त करें।

प्रवेश-पत्र दिनांक १५-५-६८ से कार्यालय में २५ नये पैसे देकर प्राप्त किये जा सकते हैं तथा ४० नये पैसे के टिकिट भेजकर मंगाये जा सकते हैं।

विशेष बात यह है कि यहाँ धार्मिक शिक्षण की व्यवस्था है।

मंत्री

श्री टोडरमल स्मारक भवन

ए-४, बापूनगर, जयपुर

तत्त्वचर्चा

[लेखांक : ११]

तत्त्वरसिक जिज्ञासुओं को प्रिय 'दस प्रश्न और उनके उत्तर' का यह विभाग पूज्य स्वामीजी के समक्ष हुई तत्त्वचर्चा से तथा शास्त्रों पर से तैयार किया जाता है।

—संपादक

(१०१) **प्रश्नः**—आत्मा शरीररहित होता है ?

उत्तरः—हाँ, आत्मा (-जीव) सदा पुद्गल शरीर से रहित ही है। अपने स्वसत्तात्मक गुण (जो सहभावी हैं, नित्य हैं) और पर्यायें (जो क्रमभावी हैं, अनित्य हैं) उसके बिना तो आत्मा कभी नहीं होता; और परद्रव्य के गुण-पर्यायवाला कभी नहीं होता। शरीर तो पुद्गलों की संयोगरूप पर्याय है, वह कहीं आत्मा की पर्याय (अवस्था) नहीं है। पर के एक भी गुण-पर्याय आत्मा में नहीं है अर्थात् आत्मा सदा शरीररहित ही है। आत्मा के गुण-पर्यायें सदा आत्मा में, और जड़-अजीव के गुण-पर्यायें जड़-अजीव में। इस समय भी आत्मा पुद्गल शरीर सहित नहीं है किंतु ज्ञान सहित ज्ञानमय ज्ञान ही जिसका शरीर है ऐसा है।

(१०२) **प्रश्नः**—आत्मा कहाँ है ? आत्मा की खोज कहाँ करना ?

उत्तरः—आत्मा अपने चैतन्य गुण पर्याय में है; उसी में आत्मा की खोज करना चाहिये। गुण-पर्याय से बाहर ढूंढ़े तो आत्मा नहीं मिलता; क्योंकि अपने गुण-पर्याय से बाहर आत्मा नहीं रहता।

(१०३) **प्रश्नः**—बंध-मोक्ष के कारण क्या-क्या हैं ? शरीर की क्रिया से बंध-मोक्ष होता है या नहीं ? शुभराग मोक्ष का कारण है या नहीं ?

उत्तरः—बंध के पाँच कारण हैं—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग (यह जीव के अशुद्ध भाव हैं; जीव करता है तो होते हैं; अन्य उनका कर्ता-हर्ता नहीं, इसलिये बंध के नाशरूप मोक्ष का उपाय जीव स्वयं कर सकता है) जीवकृत अशुद्धभावों को बंध का कारण कहा है किंतु शरीर आदि जड़ को तो कहीं भी बंध का कारण कहा नहीं है; इसीप्रकार मोक्ष के

कारण का वर्णन करने में 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र' को ही मोक्षमार्ग कहा है।—इसप्रकार आत्मा के उलटे या सुलटे भाव ही बंध या मोक्ष का कारण है; शरीर की क्रिया आदि परद्रव्य होने से आत्मा को बंध या मोक्ष का कारण नहीं है; निमित्त तो तब माना जाये कि जब उपादान स्वयं कार्यरूप परिणमे। शुभरागादि औदयिकभाव भी मोक्ष का कारण नहीं हैं।

(१०४) **प्रश्नः**—निजगृह में प्रवेश होने पर क्या होता है ?

उत्तरः—सम्यक्त्वरूपी द्वार में होकर अपने स्वरूप-गृह में प्रवेश करने से परमानंद का अनुभव होता है और अचिंत्य निजनिधान की प्राप्ति होती है; निजगृह में प्रवेश किये बिना सुख नहीं होता। निजगृह अंतरंग ज्ञानानंदमय निश्चल है; उससे च्युत होना अर्थात् स्वगृह से बाहर परभाव में कभी भी किंचित् सुख नहीं मिलता। हे जीव! अचिंत्य वैभव से भरा हुआ तेरा निवासस्थान संत तुझे बतलाते हैं। तू सम्यक्श्रद्धारूपी द्वार से निजगृह में प्रवेश कर... तुझे परमानंद होगा।

(१०५) **प्रश्नः**—आत्मा के आनंद का रस कैसा है ?

उत्तरः—चैतन्यानंदरस का स्वाद लेने के पश्चात् धर्मी जीव को जगत के समस्त विषयों का रस उड़ गया है। अज्ञानी अपने शांत अनाकुल चैतन्यरस के स्वाद को भूलकर बाह्य विषयों में सुख मानकर पराश्रय में लीन रहता है। राग की रुचि के द्वारा आत्मिक आनंद को लुटा देता है। भाई! चैतन्य के आनंद में कैसी मौज है, उसे तो एकबार देख! अज्ञानी को चैतन्यानंद की खबर नहीं है; शुभराग द्वारा भी वह लक्ष में नहीं आ सकता; ऐसा आनंद अपने में ही भरा है, उनका तू रसिक बन... और जगत के रस को छोड़।

(१०६) **प्रश्नः**—धर्मात्मा की अनुभूति कैसी है ?

उत्तरः—धर्मी जीव स्वसन्मुखता द्वारा शुद्धात्मा का अनुभव करता है, उस वर्तमान स्वोन्मुख परिणाम में उसे भूतकाल की अशुद्धता का प्रतिक्रमण वर्तता है; उसी परिणाम में वर्तमान आंशिक अशुद्धता के अभावरूप आलोचना है और उसी परिणाम में भविष्य की अशुद्धता का प्रत्याख्यान है।—इसप्रकार स्वसन्मुख अनुभव में एकाग्र एक समय के वर्तमान परिणाम में त्रैकालिक अशुद्धता का त्याग वर्तता है और त्रैकालिक शुद्धस्वभाव का उसमें ग्रहण है।—ऐसा शुद्धात्मा का अनुभव सम्यग्दृष्टि को होता है। उस अनुभव को ज्ञानचेतना कहते हैं। उस ज्ञानचेतना में आठों कर्म का और उनके फल का अभाव है। ज्ञानचेतना ने अंतरंग में

शुद्धात्मा को देखा है और उस ओर उन्मुख हुई है, इसलिये उसी में एकता करके 'यह मैं' इसप्रकार शुद्धात्मा का अनुभव करती है; 'विकार वह मैं' इसप्रकार वह ज्ञानचेतना कभी भी अनुभव नहीं करती। —इसीलिये धर्मात्मा की अनुभूति निर्मल-सच्ची होती है। शुद्धस्वभाव का स्पर्शन (एकत्व) और परभावों का पृथक्त्व रखनेवाली धर्मात्मा की ऐसी अनुभूति, वह मोक्षमार्ग है।

(१०७) **प्रश्नः**—यह शरीर आत्मा को राग-द्वेष करवाता है, यह बात ठीक है ?

उत्तरः—नहीं; कोई भी परद्रव्य आत्मा को राग-द्वेष नहीं कराते। शरीर तो नोकर्म है, वह तो आत्मा को राग-द्वेष नहीं कराता, किंतु मोहकर्म नाम का द्रव्यकर्म भी आत्मा को राग-द्वेष नहीं कराता। अपनी परिणामशक्ति से विभाव में परिणत जीव ही स्वयं राग-द्वेष-मोहभावरूप परिणमता है। स्वयं विभावरूप न परिणमे तो परद्रव्य कहीं जबरन जीव को रागादिरूप परिणमित नहीं करता। जीव की त्रैकालिक शक्ति में विकार नहीं है अर्थात् विकार करने का स्वभाव नहीं है, किंतु अनित्य उपादानरूप अपनी पर्याय में उस परिणामशक्ति से ही वह विकाररूप परिणमित होता है। यह विकारभावरूप अशुद्ध परिणाम की शक्ति अनित्य पर्याय जितनी प्रत्येक समय की है किंतु वह अशुद्ध अंश न तो शुद्ध शक्ति में से आया है कि न तो परद्रव्य ने कराया है। उस-उस समय की पर्याय में वैसी परिणामशक्ति से विकार हुआ है—इसप्रकार विभाव (विकार) में भी स्वतंत्रता है।

(१०८) **प्रश्नः**—विकार अपनी पर्याय में उस समय की परिणामशक्ति से अपनी भूल से ही होता है—ऐसा मानने से क्या लाभ ?

उत्तरः—प्रथम तो परद्रव्य विकार नहीं कराता—ऐसा स्व-द्रव्याश्रित निर्णय करने से परद्रव्य मुझे राग-द्वेष, सुख-दुःख कराते हैं, ऐसी मिथ्याबुद्धि सर्वथा नष्ट हो जाती है; शांतिदाता स्व-द्रव्य के आश्रय की दशा प्रगट होती है। अशुद्धता नित्य शुद्धस्वभावशक्ति में नहीं किंतु अनित्य पर्याय की ऐसी योग्यता से है, अतः विकार जैसा या विकार जितना ही मैं हूँ, ऐसी पर्यायबुद्धि, शुद्धस्वभावशक्ति के आश्रय से सर्वथा छूट ही जाती है। मात्र चारित्र में निर्बलतावश अल्प दोष है, उस विकार के समय भी विकार से पार ऐसा अपना शुद्धतत्त्व दृष्टि में विद्यमान ही रहता है। इसप्रकार त्रैकालिक शुद्धस्वभावोन्मुखता से ही सम्यक्त्वादिक का परिणमन होता रहता है—यह अपूर्व लाभ है। और जो जीव ऐसा मानते हैं कि परद्रव्य विकार

कराते हैं या पर्याय की अशुद्धता जितना ही सारा आत्मा है—उनकी रागरहित शुद्धतत्त्व का आदर-आश्रय-अनुभव करने का या राग-द्वेष मिटाने का समय (-अवसर) नहीं रहता।

(१०९) **प्रश्नः**—सर्वज्ञ की सच्ची प्रशंसा-महिमा किस प्रकार हो ?

उत्तरः—सर्वज्ञदेव का स्वरूप जैसा है, वैसा यथार्थ जानना, विरुद्ध का आदर न होना उसी में सर्वज्ञदेव की सच्ची प्रशंसा है।

प्रश्नः—सर्वज्ञ की निंदा कौन करता है ?

उत्तरः—सर्वज्ञदेव का जैसा स्वरूप है, वैसा जो नहीं जानते, मोक्षमार्ग का स्वरूप विपरीत मानते हैं, वह सर्वज्ञ की निंदा करते हैं। जैसे पराश्रय से-परद्रव्यादि से अपना भला-बुरा हो सकता है, शुभराग करते-करते निश्चय मोक्षमार्ग हो जाता है—ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने कहा है—ऐसा मानते हैं, वे जीव सर्वज्ञ वीतरागदेव की निंदा करते हैं अर्थात् अवर्णवाद करते हैं। सर्वज्ञदेव की प्रशंसा या महिमा की उन्हें खबर नहीं है।

बोधि-आराधक

संसार में भ्रमण करनेवाले मनुष्यों को उच्च-नीच पदमय सर्व वैभव प्राप्त होता है, परंतु जिनेन्द्र के पवित्र धर्म से होनेवाली रत्नत्रय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति, जिसको बोधि कहते हैं, वह अतिशय दुर्लभ है। इसप्रकार से जिसको अपने स्वरूप का और परपदार्थों का भेदविज्ञानरूप ज्ञान हुआ है तथा पर को अपना माननेरूप भ्रांति जिसके मन में अब कभी भी उत्पन्न नहीं होगी, जो पर को पर ही मानता है, उसमें आत्मीय बुद्धि को धारण नहीं करता, ऐसे आत्मा को ही जिनेश्वर सादात्मा-प्रशस्त आत्मा और वही उत्तम आराधक है, ऐसा कहते हैं। (सि. सार सं.)

विविध वचनामृत

(लेखांक : १९)

(२४०) जैनधर्म की मूलवस्तु-सर्वज्ञ

पूज्य स्वामीजी अनेकों बार कहते हैं कि—'श्रुतज्ञानी के हृदय में सर्वज्ञ-तीर्थंकर विराजते हैं;—यह बात कई वर्ष पहले जब सुनी, तब मुझे बहुत अच्छी लगी।' आपका प्रारंभ से ही सर्वज्ञता पर विशेष भार है, जबकि उनसे विरुद्ध विचार रखनेवालों को सर्वज्ञ की प्रतीति में ही आपत्ति है। दीक्षा ग्रहण करने के कुछ ही समय बाद तत्संबंधी मतभेद चलने लगा। आप तो भारपूर्वक कहते हैं कि जिसने सर्वज्ञ का निर्णय किया, उसके अनंत भव सर्वज्ञ ने देखे ही नहीं हैं, क्योंकि उसके हृदय में तो सर्वज्ञ विराजमान हैं; जिसके हृदय में सर्वज्ञ विराजमान हैं, उसके अनंतभव होते ही नहीं। सर्वज्ञ के निर्णय बिना ज्ञानस्वभाव का निर्णय नहीं होता, भगवान के मार्ग का निर्णय नहीं होता, भगवान की वाणी का (शास्त्र का) निर्णय नहीं होता। एक भी तत्त्व का निर्णय सर्वज्ञ का निर्णय किये बिना नहीं हो सकता। सर्वज्ञ का निर्णय करने से बुद्धि ज्ञानस्वभाव में प्रविष्ट हो जाती है, तब मार्ग हाथ आता है। यह जैनशासन की मूलभूत वस्तु है। देखो न, समयसार में वक्ता और श्रोता दोनों के आत्मा में सिद्ध को स्थापित करके ही प्रारंभ किया है।

(२४१) मैं काला क्यों ?

एक बार एक बालक ने आकर गुरुदेव से पूछा कि—गुरुदेव, आप गोरे और मैं काला क्यों ?

गुरुदेव ने कहा—भाई, आत्मा कहाँ काला या गोरा है ? मैं जीव और तू भी जीव, हम दोनों एक-से हैं। काला या गोरा तो शरीर है, आत्मा तो नाम रूप से न्यारा नित्य ज्ञानस्वरूप है। फिर तो—'मैं काला नहीं हूँ'—यह जानकर बालक प्रसन्न हुआ।

(२४२) हुण्डी बटाने की दुकान

संवत् १९८९ मगसिर शुक्ला १०वीं के दिन चेला ग्राम में श्री कानजीस्वामी को एक स्वप्न आया। उन दिनों वे श्वेताम्बर-स्थानकवासी संप्रदाय में थे। स्वप्न में उन्हें बड़ी रकम की

एक हुण्डी मिली थी; परंतु मिलने के साथ-साथ स्वप्न में यह भी आया कि यह हुण्डी यहाँ इस दुकान पर (-जिस संप्रदाय में हो उसमें) नहीं बटायी जा सकती, यह हुण्डी बटाना हो तो दूसरे साहूकार की (वीतरागी संत की) दुकान ढूंढ़ना होगी। [और फिर तो जल्दी ही संवत् १९९१ में वह दूसरी दुकान ढूँढ़ ली और वहाँ हुण्डी बटाकर तत्त्व की पूँजी प्राप्त कर ली।]

(२४३) धर्मात्मा का सच्चा जीवन

धर्म का प्राण और धर्म का जीवन वीतराग-विज्ञानमय स्वानुभूति है। स्वानुभूति ही धर्मात्मा का सच्चा जीवन है। स्वानुभूति को जाने बिना धर्मात्मा का जीवन नहीं पहिचाना जा सकता।

(२४४) स्वसन्मुख परिणति

भाई, परसन्मुख परिणति से तू अनंत काल भटका और दुःखी हुआ। परम सुख से परिपूर्ण ऐसे आत्मस्वरूप में स्वोन्मुख परिणति कर तो तुझे परम सुख हो, और तेरा दुःख तथा परिभ्रमण दूर हो जाये। स्वसन्मुख परिणति द्वारा निजगृह में आ और आनंदित हो।

(२४५) आगे बढ़...

आत्मविश्वास और दृढ़तापूर्वक तू अपने हितमार्ग में आगे बढ़ता जा। चाहे जैसे प्रसंग पर धैर्य और वैराग्य का बल टिकाए रखना... धैर्य रखेगा तो मार्ग ढूँढ़ने में तेरी बुद्धि भी तुझे साथ देगी। विपत्ति से घबराना नहीं, धैर्यपूर्वक अपने हितमार्ग में आगे बढ़।

(२४६) हम परदेशी पंखी साधु...

एक बार रात्रिचर्चा में स्वामीजी ने सर्वज्ञ की महिमा संबंधी हार्दिक भाव व्यक्त किये थे। सर्वज्ञ की अपार महिमा का मंथन करते-करते गुरुदेव का सीमंधर भगवान के विदेहक्षेत्र का स्मरण हो आया और उनके हृदय से बारंबार ध्वनि उठने लगी कि—

हम परदेशी पंखी साधुजी,
आ... रे देश के नांहीं जी...
स्वरूप साधी स्वदेश जाशुं...
रहेशुं सिद्धोनी साथ जी....
हम परदेशी पंखी साधुजी....

(और पश्चात् विदेहक्षेत्र की कितनी ही बातें याद की थीं।)

(२४७) समुद्र के बीच मार्ग

बहुत वर्ष पहले स्वामीजी को एक बार स्वप्न में समुद्र दिखायी दिया... विशाल समुद्र; जिसमें बड़ी-बड़ी पर्वताकार लहरें उछल रही थीं; परंतु उन्हें जिस ओर जाने की इच्छा होती थी, उसी ओर समुद्र के पानी में पटरी (रेल लाइन जैसी पानी की सख्त पटरी) बन जाती थी और इसप्रकार उछलते हुए समुद्र में जो निर्विघ्न मार्ग निकल आता था। (उसीप्रकार इस पंचम काल में मिथ्यामार्ग के उछलते समुद्र में भी स्वामीजी ने यथार्थ मार्ग ढूँढ़ लिया और उस मार्ग पर गमन किया। जीव की तैयारी हो, वहाँ संसार में मार्ग तैयार ही है।)

समुद्र का दूसरा एक स्वप्न पिछले वर्ष फिर आया। उसमें धरती यकायक फट जाती है और समुद्र जैसी पर्वताकार लहरें उठने लगती हैं, उज्जड़ धरती में एकदम पानी बढ़ने लगता है; इतने में गुरुदेव को उज्जड़ भूमि में एक सूखा वृक्ष दिखायी दिया और वे उस पर चढ़ गये। देखते-देखते पानी की वह बाढ़ एकदम धरती में समा गई...

(भावार्थ ऐसा भासित होता है कि—पंचम काल में विपरीतमार्ग और कुतर्क की बाढ़ समुद्र की भाँति उछल रही है... वहाँ स्वामीजी ने सम्यक्मार्गरूपी ऊँचा वृक्ष देखा और उस पर चढ़कर विपरीत मार्ग की बाढ़ को उतारकर सम्यक्मार्ग जगत में प्रसिद्ध किया। वृक्ष सूखा था, उसका आशय ऐसा लगता है कि वर्तमान में चारित्ररूपी मार्ग का हराभरा वृक्ष नहीं है, परंतु अविरतदशारूपी सूखा वृक्ष है कि जिस वृक्ष के अवलंबन से सम्यक्मार्ग की रक्षा हो सकती है।)

(२४८) राग और ज्ञान की भिन्नता

अत्यधिक राग जगत में निंदनीय माना जाता है परंतु अधिक ज्ञान वह निंदनीय नहीं माना जाता, वह तो प्रशंसनीय माना जाता है। क्योंकि—

राग जीव का स्वगुण नहीं है,
ज्ञान जीव का स्वगुण है।

(२४९) 'लाटरी लग गई....'

चर्चा में पूज्य स्वामीजी समय-समय पर अनेकों रहस्य खोलकर समझाते हैं और प्रमोद सहित कहते हैं कि देखो भाई, यह तो अंतर की अलौकिक बातें हैं, जिनका सद्भाग्य हो, उन्हें यह सुनने को मिलती हैं।

इस बार एक भाई—जो पहले विरुद्ध विचार रखते थे, परंतु बाद में स्वामीजी का थोड़ा परिचय करने से उन्हें कुछ जिज्ञासा जागृत हुई और यह सत्य समझने योग्य है, ऐसा प्रमोद आया,—वे अपना उत्साह व्यक्त करते हुए बोले—अरे साहब, हमारी तो लाटरी लग गई... जो यह बात सुनने को मिली और अंतर में जम गई। हम तो निहाल हो गये।

तब सभाजनों को संबोधकर स्वामीजी बोले—देखो भाई, जो आत्मा परितसंसारी हो यानी जिसका अल्प संसार बाकी हो, ऐसे पात्र जीव को यह बात बैठे बिना नहीं रहेगी... जिसे सर्वज्ञ की बात बैठ गई, उसे दीर्घ संसार हो ही नहीं सकता।

हम सबने बड़े हर्ष से इन उद्‌गारों को झेला।

भजन

(राग - महावीरा तेरी धुन में आनंद आ रहा है)

ओ चेतन तेरी धुन का आनंद आ रहा है॥ ओ चेतन०॥
सद्‌गुरु से हमने जाना, स्व में ही सुख का सागर।
पर से जो सुख-दुख माना, वे भ्रम अब जा रहा है॥ ओ आतम०॥
मैं मोह वारुणी पीकर, स्व के स्वभाव को भूला।
अब स्व से, स्व का, स्व में, आनंद आ रहा है॥ ओ आतम०॥
मैं ज्ञाता दृष्टा चेतन, हूँ शुद्ध बुद्ध सुख सागर।
नहिं मैं पर का पर मेरा, यह ज्ञान में आ रहा है॥
ओ चेतन तेरी धुन का आनंद आ रहा है।

(एक आत्मार्थी, गौहाटी)

मोक्षमार्ग के फाटक खोलने की रीति

[आत्मदर्शन ही एक मोक्ष का उपाय प्रगट करनेवाला है, अन्य नहीं]

[धर्मी को शुद्धात्मा समीप ही है, उसमें से मोक्षमार्ग आता है, और रागादि तो चैतन्यस्वभाव से दूर ही हैं, अतः उनमें से किंचित् भी मोक्षमार्ग नहीं आता। अपने शुद्ध आत्मा का परम मूल्य भासित हो तो उसमें उपादेयबुद्धि बनती है, उसी जीव की स्वसन्मुख परिणति होती है और मोक्षमार्ग उसे ही प्रगट होता है। इसलिये प्रथम सम्यग्ज्ञानी के सत्समागम द्वारा उस की तीव्र जिज्ञासा जागृत करना ही चाहिये, ऐसे जिज्ञासु जीव को चारों गति और राग का रस रुचि में से चला जाता है और शुद्धात्मा का रस बहुत बढ़ जाता है। पश्चात् आनंदसहित मोक्षमार्ग खुल जाता है। यह मोक्षमार्ग का दरवाजा खोलने की रीति संतों ने बताई है।]

[योगीन्दुदेवकृत योगसार गाथा १६-१८ पर पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रवचन में से]

अप्पा दंसणु एक्कु परु अण्णु ण किं पि वियाणि।
मोक्खहं कारण जोइया णिच्छइ एहउ जाणि॥१६॥

देखो, यहाँ मोक्ष का कारण बतलाते हैं। मोक्ष का निश्चयकारण निज-आत्मदर्शन ही है, अन्य कुछ मोक्ष का कारण नहीं है—ऐसा हे जीव! तू जान।

मोक्ष का द्वार कैसे खुलेगा? कि-अपना महान मूल्यवान जो आत्मस्वभाव, उसका सम्यक् प्रकार दर्शन-श्रद्धान-अनुभवन ही मोक्ष का कारण है; वही श्रेष्ठ है; उसके सिवा दूसरा कोई श्रेष्ठ नहीं है अर्थात् पराश्रितभाव—परभाव है, जो कभी भी मोक्ष का कारण नहीं है। इसप्रकार तू निश्चय से जान।

जहाँ मन की पहुँच नहीं है, वचन की गति नहीं है और काया की जहाँ चेष्टा नहीं है, विकल्प का जहाँ प्रवेश नहीं है—ऐसा जो आत्मदर्शन अर्थात् शुद्धात्मा की प्रतीति, वह निश्चय मोक्ष का कारण है; उसमें तीनों रत्न आ जाते हैं, अतः उसी को श्रेष्ठ जान; दूसरा कोई मोक्षमार्ग न मान।

देह-मन-वाणी की क्रिया का जिसमें प्रवेश नहीं है, मन के शुभाशुभ विकल्प द्वारा जो जाना नहीं जाता, ऐसा जो शुद्ध आत्मतत्त्व, उसका दर्शन-उसका ज्ञान-उसकी अनुभूति, वही एक श्रेष्ठ-उत्तम मोक्षकारण है। बीच में दूसरे विकल्प आते हैं किंतु वह मोक्ष का कारण नहीं है-वह श्रेष्ठ नहीं है।

सम्यक् रत्नत्रय की आरधना द्वारा मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करते वीतरागी संत जगत को कहते हैं कि हे जीव! विश्व में निज शुद्धात्मा का दर्शन, वही एक श्रेष्ठ है, और उसके द्वारा ही मोक्षमार्ग प्राप्त होता है; उसके बिना कभी मोक्षमार्ग प्राप्त नहीं होता। आत्मदर्शन से अन्य ऐसे किसी भी भेद-व्यवहार के पराश्रितभाव को मोक्षमार्ग न जानो, स्वाश्रितभावरूप आत्मदर्शन (जिसमें सम्यग्दर्शनादि आ जाते हैं), उसे ही वास्तव में मोक्षमार्ग जानना।

अरे! गुण-गुणी के भेद के विचार द्वारा भी जिसकी प्राप्ति नहीं होती, ऐसा सम्यग्दर्शन अंतर्मुख अनुभव द्वारा प्राप्त होता है, और मोक्षमार्ग उस अनुभव में समाविष्ट होता है। अपने सहज-आनंदस्वभाव के सन्मुख होकर जहाँ निर्विकल्प अनुभवसहित सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ मोक्षमार्ग का दरवाजा खुल गया। अतीन्द्रिय आनंदसहित ऐसा सम्यग्दर्शन-आत्मदर्शन जिसे हुआ, उसे जगत के प्रति सहज वैराग्य परिणाम होता है। पर से विमुख और अपने नित्य स्वभाव के सन्मुख ऐसा जो निर्मल परिणाम है, वही एक मोक्ष का कारण है।

सीमंधर तीर्थंकर आदि सभी तीर्थंकर भगवंत ऐसे मोक्षमार्ग को साधकर सर्वज्ञ परमात्मा हुए हैं; अनंत सिद्ध भगवंतों ने ऐसे मोक्षमार्ग को साधकर सिद्धपद प्राप्त किया है; गणधरादि संत ऐसे ही मोक्षमार्ग को साध रहे हैं और उन तीर्थंकरों ने, गणधरों ने और सम्यग्ज्ञानियों ने ऐसा ही एक मोक्षमार्ग बतलाया है, इसके सिवा अन्य कोई भी मोक्ष का सच्चा कारण जरा भी नहीं है।

शुभरागरूप व्यवहार में थोड़ा भी मोक्षमार्ग होगा या नहीं? तो कहते हैं कि नहीं; अन्य तो बंधमार्ग है, राग वह किंचित् मोक्षमार्ग नहीं है। यह जो स्वाश्रित आत्मदर्शनमय वीतरागभावरूप मोक्षमार्ग, उसके सिवा दूसरा कोई मोक्षमार्ग जरा भी नहीं है; शुभराग में मोक्ष का कारणपना जरा भी नहीं है। अरे, राग तो बाह्यभाव है, उसके द्वारा अंतरंग के अनुभव में कैसे जाया जायेगा? बाह्यभाव अंदर के भाव का कारण कैसे होगा? जरा भी नहीं। ऐसी श्रद्धा तो प्रथम ही कर। इसप्रकार जो ऐसे सच्चे मोक्षमार्ग की श्रद्धा भी नहीं करता और राग को मोक्षमार्ग

मानता है, शुभराग किंचित् तो मोक्षमार्ग का कारण होगा, ऐसा मानता है, तो वह आत्मदर्शन और उसकी मर्यादा को जरा भी नहीं जानता अर्थात् भगवान के कहे हुए सच्चे मोक्षमार्ग को नहीं जानता; सर्वज्ञ और वर्तमान आत्मानुभवी ज्ञानी की आज्ञा क्या है, वह नहीं जानता। उनका आदेश तो यह है कि हे जीव! स्वाश्रित सम्यग्दर्शनादिक को ही तू कारण जान, परसन्मुख किसी भी भाव को मोक्ष का कारण किंचित् न मान।

अरे! अंतर में पूर्ण ज्ञानानंद का भंडार तू-उसके सन्मुख देखने पर तेरा मोक्षमार्ग है; अन्य के सामने देखने से तेरा मोक्षमार्ग नहीं है। तेरा पूर्ण पवित्रतारूपी मोक्ष—तेरा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह तो स्वोन्मुख परिणाम है, वह किसको होता है? कि जिसको स्वतत्त्व का सच्चा माहात्म्य और परम रस आये उसको। स्ववस्तु की महत्ता भूलकर जो जीव परवस्तु का मूल्यांकन अधिक करता है, उसके परिणाम परोन्मुख ही रहते हैं; स्व की उत्कृष्ट महिमा भासे तो परिणाम स्वोन्मुख होते हैं और मोक्षमार्ग प्रगट होता है। इसप्रकार स्वोन्मुखता से ही मोक्षमार्ग का दरवाजा खुलता है।

गृहवास में स्थित सम्यग्दृष्टि को भी सम्यग्दर्शन द्वारा मोक्षमार्ग का फाटक खुल गया है; उसे शुद्ध स्वतत्त्व का उपादेयपना और सर्व परभावों का हेयपना है ही, इसप्रकार हेय-उपादेय तत्त्व का ज्ञान वर्तता है, और उसी ज्ञान के बल द्वारा वह मोक्षमार्ग को साध रहे हैं। अब तो उन्हें चारित्रदोषवश राग और विकल्प भूमिकानुसार आते हैं किंतु उन्हें वे मोक्ष के साधन के रूप में नहीं मानते, समस्त रागादि को अपने स्वभाव से दूर ही रखते हैं। ऐसे भेदविज्ञानमय श्रद्धा-ज्ञान सहित निजशुद्धात्मा का उपादेयत्व धर्मात्मा को गृहस्थपद में भी होता है। उपयोग अंदर में लगाते ही स्वयं विशेष आनंदमय हो जाते हैं। राग के समय भी वीतरागी समाधि की एक धारा उन्हें साथ ही साथ वर्तती है।

धर्मी को शुद्धात्मा नजदीक है, उसमें से मोक्षमार्ग आता है, और रागादि तो स्वभाव से दूर हैं, उनमें से किंचित् मोक्षमार्ग नहीं आता। शुद्धात्मा वस्तु तो स्वयं नित्य है; मैं स्वयं ही परम आनंद का महारत्न हूँ।—ऐसी स्वसंवेदनमय प्रतीति गृहस्थ धर्मात्मा को भी होती है। उसे श्रद्धा में समीपता किसकी है? कि—नित्यज्ञानमय शुद्धस्वभाव की समीपता है, और रागादि परभाव दूर हैं। 'यही मैं हूँ' ऐसी शुद्धता का उपादेयत्व है, और रागादि में तन्मयबुद्धि नहीं, वह उसका हेयतत्त्व है। गृहस्थ को भी ऐसे हेय-उपादेय के ज्ञान के बल द्वारा आंशिक मोक्षमार्ग होता है।

भले चारित्रदशारूप विशेष मोक्षमार्ग उसे प्रगट नहीं है, किंतु सम्यग्दर्शन-ज्ञान तथा जघन्य स्वरूपाचरणचारित्ररूप अल्प मोक्षमार्ग तो उसे निरंतर वर्तता है। गृहस्थदशा में ध्यान के प्रयोग द्वारा कभी-कभी राग से पृथक् होकर उपयोग को बुद्धिपूर्वक राग से अलग करके निर्विकल्प आनंद का अनुभव करता है।

मोक्षमार्ग का बड़ा हिस्सा तो मुनिवरों के पास है, अर्थात् चारित्रदशासहित बहुत कुछ मोक्षमार्ग मुनि को प्रगट हुआ है, गृहस्थ ज्ञानी को छोटा भाग है। भले छोटा भाग हो किंतु उनकी जाति तो मुनिराज के मोक्षमार्ग जैसी ही है। श्रावकधर्मी को भी जघन्य अंश मोक्षमार्ग का अंश होता है।

कोई कहे कि मोक्षमार्ग तो मुनि को ही होता है और गृहस्थ श्रावक को मोक्षमार्ग जरा भी नहीं होता,—तो उसे वास्तव में मोक्षमार्ग स्वरूप की खबर ही नहीं है; न श्रावकदशा की। आव्रती गृहस्थ को भी कथंचित् मोक्षमार्ग का अंश वर्तता है।—वह भी कभी-कभी उपयोग को अंतर में एकाग्र करके निर्विकल्प स्वानुभव के महानंद का स्वाद लेता है। मुनि को तो चैतन्यस्वरूप में बहुत लीनता है। मुनि बड़े मोक्षमार्गी है और गृहस्थ सम्यग्दृष्टि छोटा मोक्षमार्गी है।—किंतु मोक्षमार्ग तो दोनों को है; दोनों मोक्ष के साधक हैं।

अपने शुद्ध आत्मा का परम मूल्य भासित हो तो उसमें उपादेयबुद्धि होती है, उसके सन्मुख परिणति होती है और मोक्षमार्ग प्रगट होता है, किंतु उसके पूर्व उसकी प्राप्ति के लिये ज्ञानी के समागम में आने की तीव्र जिज्ञासा जागनी चाहिये। धर्मजिज्ञासु जीव को राग की रुचि, राग का रस; राग करनेयोग्य है—ऐसी भावना छूट जाती है और शुद्धात्मा का रस बहुत बढ़ जाता है।

पश्चात् अंतर्मुख परिणाम में शुद्धात्मा को साक्षात् उपादेय करने पर परम आनंदसहित मोक्षमार्ग खुल जाता है। यह मोक्षमार्ग का दरवाजा खोलने की रीत है।

वींछिया नगरी (सौराष्ट्र में)

पूज्य गुरुदेव का ७९वाँ जन्मोत्सव

वैशाख कृष्णा १४ तारीख २६-४-६८ के दिन पूज्य गुरुदेव वींछिया पधारे और हजारों भक्तों ने भव्य स्वागत किया। गुरुदेव का जन्म-दिवस मनाने के लिये वींछिया नगरी को सुंदर ढंग से सजाया गया था। रात्रि को जगमगाते हुए दीपकों द्वारा वृक्ष भी मानों उत्सव का आनंद व्यक्त कर रहे थे। प्रवचन आदि के लिये विशाल चंद्रपुरी-मंडप की रचना की गई थी। आसपास की ग्राम्य-जनता भी हजारों की संख्या में उत्सव एवं नगरी की शोभा देखने के लिये उमड़ पड़ी थी। वींछिया के निवासी जो दस-दस वर्ष से बाहर रह रहे थे, वे भी उत्सव में भाग लेने के लिये बड़ी संख्या में आ पहुँचे थे। पूज्य गुरुदेव ने समयसार गाथा १४ पर हृदयग्राही प्रवचन किये थे। अजमेर तथा घाटकोपर की भजन-मंडलियों द्वारा भक्ति-भजन का सुंदर कार्यक्रम प्रदर्शित किया गया था।

वैशाख शुक्ला २ के दिन तो अपूर्व उत्साह था... प्रातःकाल शहनाई गूँज उठी और जन्म-दिन की बधाई गाते-गाते हजारों भक्त प्रभातफेरी के साथ उत्सव-मंडप में पहुँचे... गुरुदेव भी सुशोभित ७९ द्वारों से निकलकर मंडप में पधारे। चारों ओर जय-जयकार का नाद गूँज रहा था और उसकी प्रतिध्वनि सारे वींछिया नगर में फैल रही थी। जन्म-बधाई के मंगल-मुहूर्त में माननीय श्री रामजी माणेकचंद दोशी ने जिनवाणी परमागम शास्त्र गुरुदेव को भेंट किये और श्रीफल ले-लेकर हजारों भक्तों ने गुरुदेव का अभिनंदन किया। गुरुदेव ने मंगलाचरण सुनाया।

आज वींछिया नगर का वातावरण अपूर्व उल्लासमय था... घर-घर में जन्मोत्सव की शोभा थी... मंडप में दर्शकों एवं भक्तों की अपार भीड़ के बीच पूज्य बेनश्री-बेन जन्म-बधाई गवा रही थीं। तत्पश्चात् जिनमंदिर में पूजा हुई... छोटा-सा जिनमंदिर हजारों दर्शनार्थियों से खचाखच भर गया था। गुरुदेव के सुहस्त से मंगलमूर्त कुन्दकुन्द-प्रभु के चित्र की स्थापना हुई। सवा सात बजे से जिनेन्द्रदेव की रथयात्रा प्रारंभ हुई... ग्राम के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैला हुआ भव्य रथयात्रा का जुलूस वींछिया के लिये अद्वितीय था। आठ बजे से पौने नौ बजे तक पूज्य गुरुदेव का मंगल-प्रवचन हुआ; जिसमें उन्होंने कहा कि—ज्ञान उसका नाम है

जिसके साथ आनंद हो। शुद्ध आत्मा की ओर उन्मुख होकर उसे जानने से सच्चा ज्ञान और सच्चा सुख होता है। अनंत गुणों का समुद्र आत्मा सुख से भरा हुआ है; उसका अनुभव करने से आनंद होता है, फिर जीव का मन अन्यत्र कहीं नहीं लगता।—ऐसे आत्मा को स्वीकार करके तु उसे प्रमाण करना, अनुभव में लेना... आत्मा के निजवैभव से हमने ऐसा शुद्ध आत्मा बतलाया... और श्रोता उपादान की तैयारी से उसका अनुभव करनेवाले हैं—इसप्रकार उपादान-निमित्त की संधिपूर्वक यह बात है। हे भाई! यह अनुभव का अवसर है, इसे तू चूकना मत!—इसप्रकार गुरुदेव के मुख से अनुभव का उल्लास प्रेरित करनेवाला प्रवचन सुनकर सबको अत्यंत हर्ष हुआ।

प्रवचन के पश्चात्-७९वें जन्म-दिवस के हर्षोपलक्ष में सैकड़ों भक्तों की ओर से ७९ रुपये की रकमों के दान की घोषणा की गई थी—जिसमें अफ्रीका आदि विदेशों में रहनेवाले मुमुक्षुओं की ओर से भी अनेक रकमें आयी थीं। अनेक नगरों से जन्म-दिन के अभिनंदन एवं शुभकामनाओं के तार आये थे।

जन्म-दिन के अवसर पर पूज्य गुरुदेव को समाज की ओर से हार्दिक श्रद्धांजलि के रूप में माननीय पंडित श्री हिम्मतलाल जे. शाह, श्री रसिकभाई धोलकिया, श्री खीमचंद जे. सेठ, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के अध्यक्ष श्री नवनीतलाल सी. जवेरी आदि ने संक्षिप्त भाषण द्वारा पूज्य गुरुदेव का उपकार व्यक्त किया था; पश्चात् वींछिया मुमुक्षु मंडल की ओर से रजतपत्र में अंकित स्तुतिपत्र श्री नवनीतलाल सी. जवेरी के हाथ से पूज्य गुरुदेव को अर्पित किया गया था। दोपहर एवं सायंकाल भी मुमुक्षुगण भक्ति आदि द्वारा जन्मोत्सव का आनंद व्यक्त कर रहे थे।—इसप्रकार जिनशासन के महान प्रभावक एवं परम उपकारी गुरुदेव का जन्मोत्सव सानंद समाप्त हुआ।

वींछिया के दिगम्बर जैन संघ ने इस कार्य में तन-मन-धन से सहयोग दिया जिसके लिये धन्यवाद! इस उत्सव में वींछिया के श्वेताम्बर संघ ने एवं नगर की जनता ने भी अच्छा सहयोग दिया था।

जन्मोत्सव के पश्चात् गुरुदेव वैशाख शुक्ला सप्तमी के दिन अपनी जन्मभूमि उमराला पधारे जहाँ उनका हार्दिक स्वागत किया गया। उमराला दो दिन ठहरकर गुरुदेव वैशाख शुक्ला नवमी के दिन लींबड़ी पधारे। लींबड़ी की दिगम्बर जैन समाज एवं नगर की जनता ने

धर्मोल्लास सहित हार्दिक अभिनंदन किया और छह दिन तक पूज्य गुरुदेव की अमृतवाणी का श्रवण किया। बाहर से भी अनेकों मुमुक्षु लींबड़ी आये थे और विविध कार्यक्रमों में भाग लिया था।

वैशाख शुक्ला पूर्णिमा के सवेरे ९ बजे पूज्य गुरुदेव ने सोनगढ़ में प्रवेश किया, जहाँ एक दिन पूर्व ही दूर-दूर के नगरों से हजारों मुमुक्षु स्त्री-पुरुष गुरुदेव का स्वागत करने के लिये आ पहुँचे थे। स्वागत-यात्रा का जुलूस देखते ही बनता था। गुरुदेव के पधारने से सोनगढ़ के सुप्त वातावरण में मानों पुनः जागृति आ गई है। बाहर से अनेकों शिक्षार्थी सोनगढ़ आ गये हैं और जैन-विद्यार्थी शिक्षण-वर्ग उत्साहपूर्वक चल रहा है।

स्वसंवेदनरूप श्रुतज्ञान

आचार्यदेव को केवलज्ञान तो नहीं है किंतु केवलज्ञान का साधक ऐसा श्रुतज्ञान है। वे कहते हैं कि—हमारा यह अंतरोन्मुख श्रुतज्ञान भी केवलज्ञान जैसा ही है; केवलज्ञानी की भाँति वे स्वसंवेदन प्रत्यक्षपूर्वक शुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं। ज्ञान अल्प होने पर भी उस श्रुतज्ञान को अंतरोन्मुख करके हम केवल आत्मा का अनुभव करते हैं, इसलिये हम भी 'केवली' हैं। केवल आत्मा का अनुभव करनेवाला यह ज्ञान ही केवलज्ञान का साधक है; इसलिये साध्य के साथ जो केलि कर रहा है—ऐसे स्वसंवेदनरूप श्रुतज्ञान द्वारा अकेले आत्मा का अनुभव करते हुए हम निश्चल रहते हैं... दूसरी आकांक्षा से बस होओ!

—इसप्रकार संतों ने केवलज्ञान के साथ श्रुतज्ञान की संधि की है।

कार्यालय श्री टोडरमल स्मारक भवन, बापूनगर, जयपुर

आध्यात्मिक संत श्री कानजीस्वामी का ७९वाँ जन्म दिवस समारोह प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान पंडित चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ की अध्यक्षता में बड़े ही आनंदपूर्वक संपन्न हुआ। सर्वप्रथम नेमिचंदजी पाटनी ने उनका परिचय देते हुए कहा कि उन्होंने सत्य को मात्र प्राप्त ही नहीं किया वरन अनेक बाधाओं और विरोधों के बावजूद उसे प्रकाशित भी किया। अनेक वक्ताओं ने उन्हें भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की। पंडित हुकमचंदजी न्यायतीर्थ एम.ए. ने स्वामीजी द्वारा सारे भारतवर्ष में प्रचारित तत्त्वज्ञान और आध्यात्मिक प्रवाह का विस्तार से परिचय देते हुए कहा कि समयसार और मोक्षमार्गप्रकाशक जैसे ग्रंथों को जन-जन तक पहुँचाने का श्रेय स्वामीजी को ही है। कुछ स्वार्थी तत्त्वों द्वारा उनके संबंध में फैलायी गई भ्रमणाओं का भी आपने समुचित समाधान किया। अंत में अपने अध्यक्षीय भाषण में पंडित चैनसुखदासजी ने कहा कि स्वामीजी द्वारा प्रचारित वस्तुतत्त्व आगमानुकूल व पूर्ण सत्य है। उनके द्वारा समाज का बहुत कल्याण हुआ है। वे आज समाज के आध्यात्मिक धरातल पर छाये हुए हैं। अब लोग कुछ भी कहते रहें, पर इस अध्यात्म-गंगा के प्रवाह को रोका नहीं जा सकता।

मंत्री
श्री टोडरमल स्मारक भवन
ए-४, बापूनगर, जयपुर

दिनांक ३०/४/६८

श्री गोमटेश्वर तीर्थयात्रा के स्मरणीय अनुभव

ब्रह्मचारी भंवरलालजी इंदौर से उल्लेखनीय बात लिखते हैं कि श्री बाबूभाई (फतेपुर) द्वारा विशाल यात्रा संघ में सब प्रकार की सुंदर व्यवस्था से निरंतर उत्साह-आनंद मिला है। जैन यात्रा संघ इस शैली का अवश्य अनुकरण करें। शुद्ध खानपान, समय की पाबंदी, दरेक को निराकुलता, पूर्ण व्यवस्था में सहयोग, यात्रियों में परस्पर प्रशंसनीय प्रेम तथा सब क्षेत्रों को दान आदि के विस्तृत वर्णन आप लिखते हैं कि तारीख २७-३-६८ को यात्रा संघ कोल्हापुर पहुँचा;

वहाँ श्री देशभूषणजी मुनि ने बाबूभाई को प्रवचन करने को कहा, तब श्री बाबूभाई ने पुण्य और धर्म के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा कि धर्मी को वीतरागता प्राप्त न होने तक अशुभ से बचने के लिये शुभोपयोगरूप छह-आवश्यक दानादि तथा तीर्थयात्रा के भाव आते हैं, धर्मी इन भावों को पुण्यभाव (शुभभाव) ही मानते हैं, वीतरागी धर्म नहीं मानते। सर्वज्ञ वीतराग कथित धर्म (वीतरागभाव) ही मुक्ति का उपाय है, पुण्यभाव तो बंधस्वरूप है।

प्रवचन सुनकर तथा उसका अध्ययन करके मुनिश्री ने अपना निर्णय स्पष्ट व्यक्त किया था। उसका भाव इसप्रकार है:—

भाइये !... मैंने आज बाबूभाई के प्रवचन को सुना; उन्होंने धर्म के स्वरूप को तथा धर्मी की आवश्यक क्रियाओं की विवेचना की है, वह आगमोक्त है। मुझे तो उसमें कोई भूल दिखायी नहीं देती। उ.प्र. के कुछ पंडितों की जो सोनगढ़ के विषय में मान्यता है, वह योग्य नहीं है, उससे तो समाज में एकता का निर्माण न होकर विघटन ही हुआ है। मेरे पास यहाँ भी पंडितों के विरोध के पत्र आ रहे हैं, यह उनकी भूल है। उनको मैं अपने विचार स्पष्ट लिखूँगा। मैं तो २५ वर्ष पूर्व सोनगढ़ गया था, तब से मेरा सोनगढ़ से समागम नहीं हुआ, और पंडितों के वातावरण में रहा, इसलिये मैं भी सोनगढ़ के विषय में शंकित रहा हूँ। दक्षिण प्रान्तों में सोनगढ़ के विरुद्ध कोई वातावरण नहीं है।

अंतिम दो शब्द—दक्षिण के तीर्थक्षेत्र के व्यवस्थापकों से अति आवश्यक प्रार्थना है कि मंदिरों की स्वच्छता और प्रकाश पर विशेष ध्यान दें। अधिकांश जगह हमने मूर्तियों पर जीवराशि चलती-फिरती देखी, मंदिरों में दुर्गंधित वायु भी पायी है। दक्षिण के जैन मंदिरों में यह सुधार शीघ्र हो।

ब्रह्मचारी भंवरलाल जैन
(मोदीजी की नसिया, इंदौर)

जीव और अजीव की स्पष्ट भिन्नता समझे तो सुख का अनुभव हो!

[श्री समयसार-कलश ४४ पर पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

(कार्तिक कृष्णा ६, वीर सं. १४९३)

यह समयसार का ४४वाँ कलश है। इसमें कहते हैं कि—आत्मा अनादि काल से जीव और अजीव की एकत्वबुद्धिरूप मिथ्यासंस्कार से परिणमित हो रहा है। पुण्य-पापरूप जो परिणमन होता है, उसरूप मैं हुआ हूँ—ऐसी भ्रमणा इस जीव को अनादि काल से हुई है। आत्मा तो शुद्ध चिदानंद वस्तु है, वह पुण्य-पाप विकाररूप नहीं है, परंतु भ्रमबुद्धि के कारण जीव और अजीव का एकरूप अनुभव करता है।

भगवान आत्मा सच्चिदानंदरूप प्रभु शाश्वत वस्तु कभी विकाररूप नहीं हुआ है—दोनों परस्पर भिन्न हैं—ऐसा अनुभव प्रगटरूप सुलभ है; तथापि जो एकत्व-संस्काररूप अनुभव कर रहे हैं, वह आश्चर्य है। लोग कहते हैं कि आत्मा का अनुभव करना दुर्लभ है; परंतु जो वस्तु है, उसका अनुभव दुर्लभ या कठिन कैसे हो सकता है ?

ऐसा अनुभव क्यों करते हैं ? क्योंकि चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के द्रव्य पृथक्-पृथक् हैं और उनमें महान अंतर है; फिर भी उनका एकरूप अनुभव करते हैं, वह आश्चर्य है। फिर आचार्यदेव कहते हैं कि आश्चर्य नहीं भी है। क्यों नहीं है ? कि अशुद्धरूप हो जाने के कारण वह आश्चर्य नहीं है; क्योंकि अशुद्धपने के कारण बुद्धि को भ्रम होता ही है। जिसप्रकार धतूरा पी लेनेवाले की दृष्टि विचलित हो जाती है और सफेद शंख उसे पीला दिखायी देता है। यद्यपि शंख तो पीला नहीं हुआ है परंतु विचलित दृष्टिवाले को वह पीला दिखायी देता है; उसीप्रकार अशुद्ध दृष्टि के कारण यह जीव शरीर एवं विकार के साथ अपनी एकता का अनुभव करता है। यह महान अविवेक है। यहाँ तो कहते हैं हैं कि—जिसे धर्म करना हो, उसे पुण्य-पाप एवं विकाररहित शुद्ध आत्मा की दृष्टि करना होगी और जीव-अजीव की भिन्नता को समझना होगा।

स्त्री-पुत्र-कुटुम्बादि तो उनके अपने कारण से आये हैं, अपने में रहे हैं और रहेंगे... तेरी पर्याय के कारण उनमें कुछ नहीं होता, तथापि अज्ञान के कारण तू उन्हें अपना मानकर दुःखी हो रहा है। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप पवित्र वस्तु अंतर में विराजमान है, उसी पर दृष्टि करे तो तुझे परपदार्थों से उसकी भिन्नता भासित होकर सुख का अनुभव हो। आत्मा एक समय की क्षणिक पर्याय में अशुद्धरूप परिणमित हुआ है, परंतु स्वभाव से तो वह पूर्ण शुद्ध है। अनादि कालीन विभाव परिणाम, वह अविवेक है—अशुद्धता है। भाई, यह केवलीप्रणीत धर्म है; यही जीव को शरणभूत है, अन्य कोई शरण नहीं है।

भाई, तेरा अविवेक नाटक बहुत बड़ा है। भगवान शुद्ध चिदानंद आत्मा और परवस्तुओं की एकता माननेरूप यह नाटक अनादि से चला आ रहा महान अविवेक-नाटक है और उसमें पुद्गल ही नाच रहा है। भव को छोड़ते समय नवीन भव के संस्कार लेकर जाता है, यह महान अविवेक है। राग-द्वेष-क्रोध-मान-माया-लोभ आदि अनादि बंधपर्याय से हुए विभाव परिणाम, उनसे रहित तू शुद्ध चिद्रूप चैतन्य प्रभु है; अपने शुद्ध गुण-पर्यायों को ही तूने धारण कर रखा है और वही तेरा सर्वस्व है।

जिसप्रकार कीचड़ से भरा हुआ पानी मैला है; वहाँ वह मैलापन रंग है; उस रंग को अंगीकार न करे तो शेष जो कुछ है, वह पानी ही है; उसीप्रकार जीव की कर्मबंधपर्यायरूप अवस्था में रागादिभाव रंग हैं; उन्हें अंगीकार न करें तो उनसे रहित जो कुछ है, वह चैतन्यधातुमात्र शुद्ध वस्तु है। इसका नाम शुद्धस्वरूपानुभव है।—ऐसा अनुभव सम्यग्दृष्टि को होता है।

धर्म प्रचार का लघु प्रयास

[आदरणीय श्री नवनीतभाई सी. जवेरी प्रमुख श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट तथा अखिल भारतीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी के माननीय सदस्य की ओर से सोलापुर निवासी ब्रह्मचारी दीपचंदजी को सोनगढ़ में एक वर्ष तक अभ्यास कराने के पश्चात् जगह-जगह से आमंत्रण आने पर धर्मप्रचार हेतु भेजा था। परम उपकारी आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के चारों अनुयोगों के शास्त्रों पर प्रवचन (टेपरील रेकोर्डिंग मशीन पर) सुनाने के लिये निम्न गाँवों में जाना हुआ।] (ब्रह्मचारी गुलाबचंद जैन)

१. पारोला—(जलगाँव) तारीख २५-३-६८ से ९ दिन तक दिन में तीन बार कार्यक्रम रहा। सवेरे टेप-रेकोर्डिंग में हिन्दी प्रवचन तथा मराठी भाषा में उसका स्पष्टीकरण करना। दोपहर को जैन सिद्धांत प्रवेशिका पढ़ाना और रात्रि को सवेरे की भाँति टेपरिकार्ड का कार्यक्रम रहता था। शेठ श्री त्रिभोवनदास ओंकारसा ने सब व्यवस्था की थी। चैत्र सु. १ को दिगम्बर जैन मुमुक्षु स्वाध्याय मंडल की स्थापना ब्रह्मचारी जी द्वारा हुई। प्रथम भगवान का अभिषेक-पूजन और प्रभावना बाँटने के साथ कार्यक्रम बड़े उत्साह से प्रारम्भ हुआ। दूसरे दिन बड़े उत्साह से दिगम्बर जैन महिला मुमुक्षु मंडल की स्थापना हुई। जैन समाज ने आशातीत लाभ लिया।

२. धरणगाँव—तारीख ३-४-६८ यहाँ भी मुमुक्षु मंडल की स्थापना बड़े उत्साह सहित हुई। सात दिन तक दिन में कार्यक्रम तीन बार चलते थे।

३. शेंदुर्णी—यहाँ महावीर जयंती अपूर्व उत्साह से मनाई और मुमुक्षु मंडल की स्थापना हुई। पाँच दिन तक कार्यक्रम हुआ।

४. जलगाँव—यहाँ भी पूर्वोक्तक्रम अनुसार तारीख १५-४-६८ से पाँच दिन तक कार्यक्रम रहा। तारीख १८-४-६८ को भगवान का अभिषेक-पूजन करके भीवंडी निवासी श्री व्रजलाल मगनलाल शेठ की उपस्थिति में दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल की स्थापना हुई। श्री नटवरलालभाई ने सारा कार्यभार संभाल लेना स्वीकार किया है।

५. चोपडा—तारीख २० से २७ तक कार्यक्रम रखा गया; यहाँ जैन संख्या ज्यादा है। यहाँ भी स्त्री तथा पुरुषों के अलग-अलग दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडलों की स्थापना तारीख २६-४-६८ को हुई है।

—ब्रह्मचारी दीपचंद गोरे

卐 शुभ जन्म-दिवस आया रे.... 卐

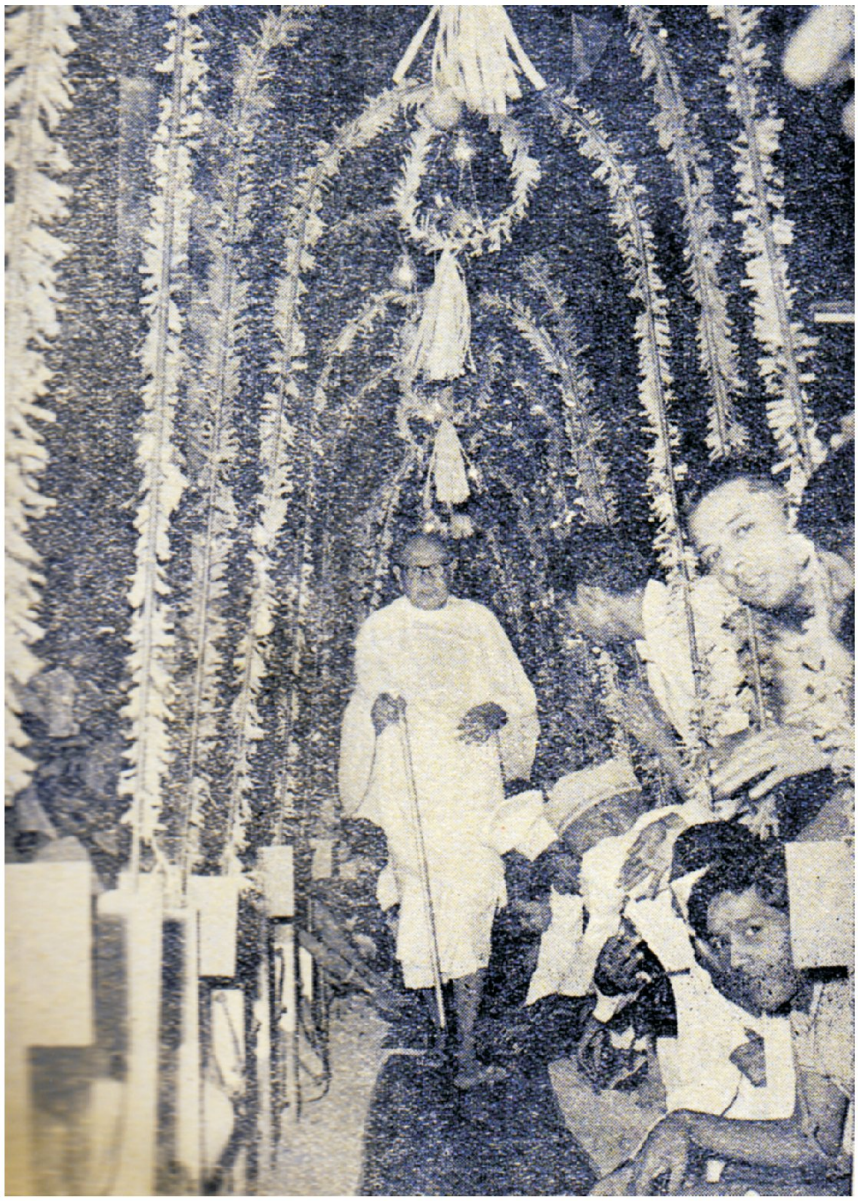

यह किसी उद्यान का या आम्रवन का दृश्य नहीं है, यह तो सोनगढ़ में पूज्य गुरुदेव के ७७वें जन्मदिन पर सजाये गये ७७ द्वारों का दृश्य है।

नये प्रकाशन

छहढाला (सचित्र)

सर्वज्ञ-वीतराग कथित सर्व शास्त्रों के साररूप यह ग्रंथ पाठय-पुस्तकरूप में भी जैन समाज में अति-प्रचलित है। इसमें पंडित श्री दौलतरामजी ने जैन-तत्त्वज्ञान को गागर में सागर की भाँति भर दिया है। रंगी चित्रों के कारण पढ़ने में विशेष रुचि और समझने में सरलता रहती है। पृष्ठ संख्या २१०, लागत मूल्य-१-५० होने पर भी मात्र १) में कमीशन नहीं है।

अपूर्व अवसर-प्रवचन

[श्रीमद् राजचंद्रजी कृत 'अपूर्व अवसर' काव्य पर पूज्य कानजीस्वामी के प्रवचन]

यह काव्य अत्यंत रोचक, आत्मिक उत्साहमय, अध्यात्मरस से भरपूर बारंबार पढ़ने योग्य हैं; खूब माँग होने से यह इसकी तीसरी आवृत्ति है। इस बार इसमें पंडित प्रवर श्री टोडरमलजी के सुपुत्र पंडित श्री गुमानीरामजी कृत बृ० समाधिमरणस्वरूप तथा पंडित जयचंदजी कृत बारह भावना का समावेश किया है।

श्री सेठी ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ संख्या १८०, मूल्य १)५०, थोक मंगाने पर २५ प्रतिशत कमीशन।

चिद्विलास

अनुभवप्रकाश, आत्मावलोकन, ज्ञानदर्पण, अध्यात्म-पंचसंग्रह, भावदीपिकादि ग्रंथों के कर्ता, अध्यात्मतत्त्व द्रव्यानुयोग के विशेषज्ञ अधिकारी, अनुभवी विद्वान श्री दीपचंदजी शाह कासलीवाल कृत यह 'चिद्विलास' ग्रंथ जो प्रवचनसार आदि परमागम के संक्षेप साररूप है; अनेक शास्त्रों के गहन अध्ययन चिंतन के फलरूप सुंदर, रोचक और प्रौढ़ रचना है। हरेक स्वाध्याय प्रेमी को बारंबार पढ़नेयोग्य है।

सेठी ग्रंथमाला से प्रकाशित दूसरी आवृत्ति पृ० सं० १९६, मूल्य १-५०, थोक मंगाने पर २५ प्रतिशत कमीशन पोस्टेज अलग।

प्राप्तिस्थान : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये प्रकाशक एवं मुद्रक :
मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)